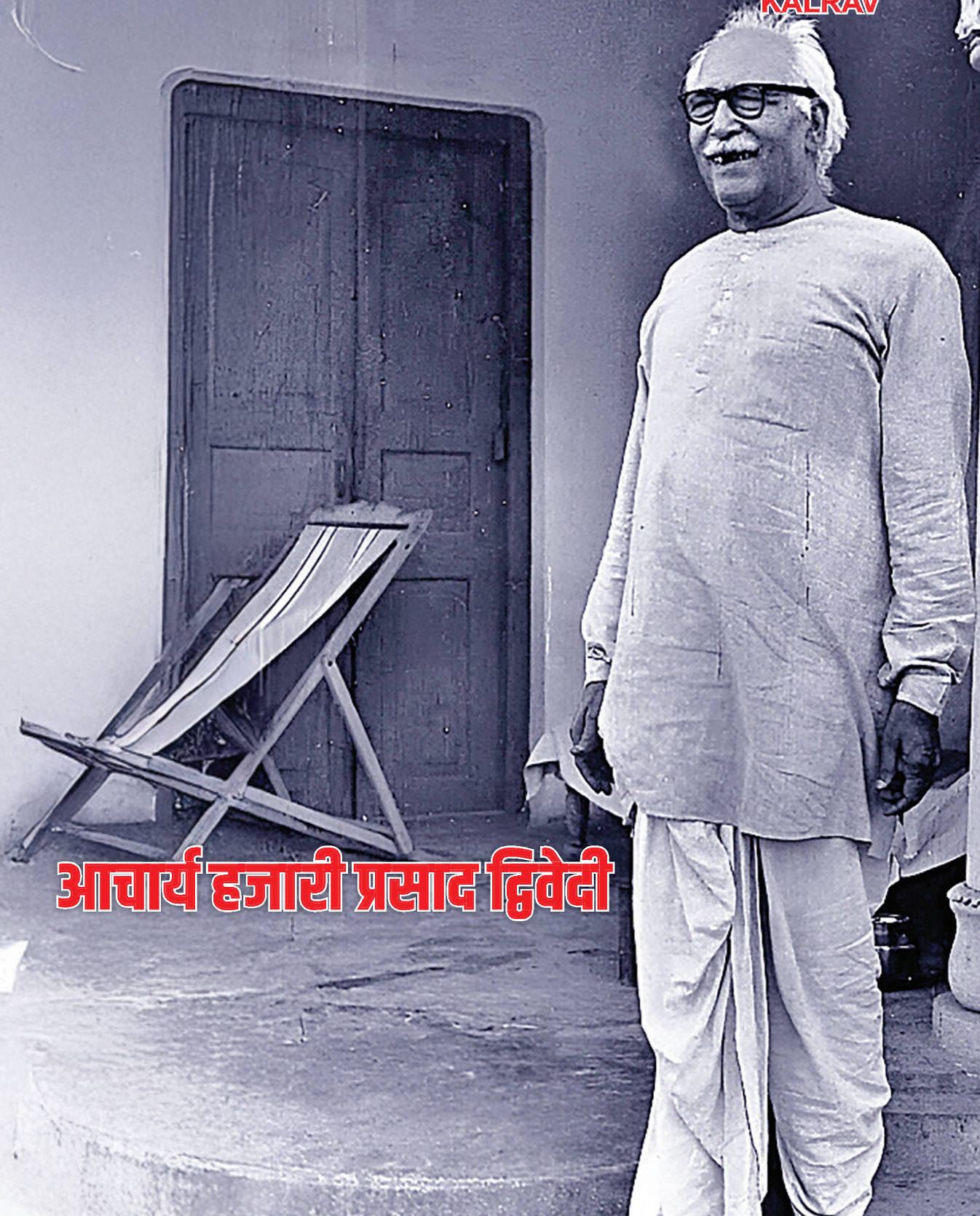


अक्टूबर, 2025

मूल्य : 10 रुपये

कलराव

KALRAV



आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

Three Unique Dailies For Everyone In The Family



AAJ KA ANAND
Hindi Daily : Published Since 41 years



SANDHYANAND
Marathi Daily : Published Since 20 years



Life 365
English Daily : Recently Lannched, Unique Daily

Aaj Ka Anand Papers Ltd., (Since 1971)

आम आदमी पार्टी की हार, भाजपा की सरकार

दिल्ली राज्य में विधानसभा की तस्वीर लगभग साफ हो चुकी है। इसमें अब तक अपने आपको अपराजेय मान रही आम आदमी पार्टी को बहुत बड़ी निराशा हाथ लगी है। भारतीय जनता पार्टी ने स्पष्ट बहुमत प्राप्त करने के साथ ही सरकार बनने का रास्ता साफ कर दिया है।

06

12

20



30

38

8 भाजपा की जीत और आप की हार के सियासी मायने

10 दिल्ली में भाजपा ने जीत की नई इबारत लिखी

12 डोनाल्ड ट्रम्प की भारत को धमकी और उसके निहितार्थ

17 औरंगजेब ही जेर-ए-बहस क्यों?

18 आखिर तमिलनाडु में हिंदी को लेकर भारी विरोध की वजह क्या है?

20 कहानी : स्वामिमान

22 कर्ज में डूबी जनता और अट्टहास करते अरबपति

24 बिहार चुनाव में नीतीश को सीएम का दावेदार कहने से क्यों बच रही है बीजेपी?

26 उत्तराखंड का नया भू-कानून

28 एक डिजाइनर आंदोलन से जन्मी पार्टी का यही हश्र होना था!

30 सनौली के अवशेषों में परम वैभव के संकेत

32 'आप' के रास्ते भाजपा की दिल्ली में वापसी

36 दिल्ली के बाद अब आप के लिए पंजाब में संकट

39 महिला दिवस पर हिंदी विश्वविद्यालय को महिला कुलपति की सौगात

40 पृथ्वी पर मानव प्रजातियाँ

41 कर्नाटक के बेंगलुरु में धूमधाम से मना 'मध्य प्रदेश महोत्सव'

कलरव

अप्रैल, 2025 वर्ष:20 अंक: 2

संपादक

अनिल तिवारी

प्रबंध संपादक

वर्षा सिंह

कार्यकारी संपादक

राजेश डोबरियाल

उप संपादक

संध्या शुक्ला

विशेष संवाददाता

नचिकेता पटनायक

संजय कुमार

फोटो - संपादक

चमन गौतम

साज-सज्जा

राधेश्याम

कानूनी सलाहकार

इंदु प्रकाश सिंह

कुंअर जयसिंह

(उपरोक्त सभी पद अवैतनिक हैं)

स्वामी, मुद्रक व प्रकाशक शोभा तिवारी
द्वारा एबीएम ग्राफिक्स, सी-440,
सेक्टर-10, नोएडा, गौतमबुद्ध नगर,
(उत्तर प्रदेश) व डीटी प्रिंटर्स एंड
पब्लिशर्स, लाल बहादुर शास्त्री मार्ग,
माजरा, देहरादून से मुद्रित तथा 93ए,
अरावली अपार्टमेंट, सेक्टर-52, नोएडा,
गौतमबुद्ध नगर (उत्तर प्रदेश) से
प्रकाशित।

कार्यालय: सी-288, सेक्टर-10

नोएडा, गौतमबुद्धनगर, यू.पी.

फोन: 0120-6545602

E-mail :

kalarvms@rediffmail.com

Website: www.jankalrav.com

सौजन्य: सहयोग

707, पत्रकार विहार, इंदिरापुरम, गाजियाबाद

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और आधुनिक लोकतांत्रिक दृष्टि



गौरी तिवारी

उत्तर प्रदेश के पूर्वी छोर पर स्थित बलिया जनपद का मशहूर ददरी मेला अपने शबाब पर है। हिंदू पंचांग से प्रतिवर्ष कार्तिक पूर्णिमा पर लगने वाला यह मेला उस इलाके की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक गतिविधियों का केंद्र तो बनता ही है, वहां साहित्यिक जमावड़ा भी खूब होता है। आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रथम पुरुष भारतेंदु हरिश्चंद्र मंच की ओर से साहित्यिक सांस्कृतिक कार्यक्रमों की श्रृंखला पूरे महीने भर चलती रहती है। इस मंच को समृद्ध करने वालों की एक लंबी परंपरा और उनका इतिहास साहित्य के समक्ष साक्षी भाव से विद्यमान है। मौजूद फेहरिस्त का जब हम सांगोपांग समीक्षा करते हैं तो सबसे सुरीला स्वर हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का ही सुनाई देता है। अपने साहित्य सृजन, आलोचना, इतिहास दृष्टि, और खासकर ललित निबंधों से चमकृत कर देने वाले द्विवेदी जी ने समर्पण भाव से इसे सींचा, आगे बढ़ाया और एक नई दिशा दी। एक सौ अठारह साल पहले उनका जन्म उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के ओझवलिया गांव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उन्होंने अपनी प्रारंभिक शिक्षा दीक्षा काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्राप्त की और वह भी ज्योतिष शास्त्र में। उनकी वेशभूषा पंडितों जैसी थी। उनके लेखन का बड़ा हिस्सा परंपरा के विश्लेषण और मूल्यांकन से संबद्ध है। वे अपने लेखन में प्रायः संस्कृत और आवश्यकतानुसार प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं से उद्धरण देते हैं। यही नहीं, वे अपने लेखन में धार्मिक, पौराणिक प्रसंगों, प्रतीकों, मिथकों और शब्दों का बार बार प्रयोग करते हैं। इन सब तथ्यों के कारण उन्हें परंपरावादी और पंडिताऊ किस्म का विद्वान समझा जाता रहा है। लेकिन उनका लेखन ही इस बात का प्रमाण है कि न तो वे रूढ़ अर्थों में परंपरावादी थे और न ही उनका लेखन पंडिताऊ किस्म का है। इसके विपरीत वे सच्चे अर्थों में संस्कृति और साहित्य के आधुनिक दृष्टि संपन्न अध्येता और संवेदनशील रचनाकार थे। उनका संपूर्ण लेखन जनोन्मुखी, लोकतांत्रिक व धर्मनिरपेक्ष मूल्यों से गहरे रूप से न केवल प्रभावित है बल्कि वे संपूर्ण परंपरा का अवलोकन व मूल्यांकन इन्हीं आधुनिक मूल्यों द्वारा करते हैं। यह अवश्य है कि उनके लेखन और जीवन दर्शन में कई तरह के अंतरविरोध भी निहित हैं लेकिन ये अंतरविरोध इन बुनियादी जीवन मूल्यों के प्रति उनकी सच्ची और गहरी आस्था को कहीं भी खंडित नहीं करते।

द्विवेदी जी ने अपने लेखन की शुरुआत बीसवीं सदी के जिस दौर में की थी उस समय देश में आजादी का संघर्ष अपने अंतिम चरण में प्रवेश कर रहा था। इस दौर में यदि एक ओर वामपंथी आंदोलन का उदय हो रहा था तो दूसरी ओर हिंदू और मुस्लिम सांप्रदायिक शक्तियां भी तेजी से बढ़ रही थीं। पाकिस्तान की मांग सामने आ चुकी थी। आजादी की तरफ बढ़ते कदम के साथ यह सवाल भी सामने आ रहा था कि आजाद भारत कैसा होगा? उसमें गरीबों, दलितों, स्त्रियों को भी क्या वैसी ही आजादी और वैसे ही अधिकार मिलेंगे जो अमीरों, ऊंची जाति वालों और पुरुषों को प्राप्त होंगे। बाबा साहब अंबेडकर दलितों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्रों की मांग रख चुके थे। इसी दौरान देश को आजादी भी मिली और पूर्व और पश्चिम के कुछ हिस्से अलग होकर एक नया देश पाकिस्तान अस्तित्व में आया। बंगाल का विभाजन होकर पूर्वी पाकिस्तान बना। विभाजित भारत ने फिर भी लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष गणराज्य बनाने का भी फैसला किया।

यह दौर विश्व स्तर पर भी

अशांति और संघर्षों का दौर था। यूरोप में साम्राज्यवादी देशों के पारस्परिक अंतरविरोधों ने तथा अंधराष्ट्रवाद और नस्लवाद के गठजोड़ से पैदा हुए फासीवाद ने उसे विश्वयुद्ध में धकेल दिया। इस युद्ध की चपेट से एशिया और अफ्रीका के वे देश भी नहीं बच सके जो साम्राज्यवादी देशों द्वारा उपनिवेश बनाए गए थे। जर्मनी के तत्कालीन शासक हिटलर ने साठ लाख यहूदियों को यातना शिविरों में तड़पा-तड़पा कर मार डाला। इस युद्ध में करोड़ों सैनिक और असैनिक मारे गए। अमेरिका द्वारा जापान के दो शहरों पर अणु बम का इस्तेमाल किया गया। इस पृष्ठभूमि को नजर में रखे बिना हजारी प्रसाद द्विवेदी के लेखन को नहीं समझा जा सकता।

गुरुदेव और द्विवेदी जी

हिंदी शिक्षक के रूप में हजारी प्रसाद द्विवेदी जी 23 वर्ष की अवस्था में 1930 में शांति निकेतन चले गए और बीस वर्ष तक वे वहां अध्यापन कार्य करते रहे। लगभग बारह वर्ष तक उन्हें रवींद्र नाथ ठाकुर के निकट संपर्क में रहने का अवसर मिला। (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खंड आठ पृष्ठ 271) साथ ही इन बीस सालों में वे शांति निकेतन में कार्य करने वाले तत्कालीन विद्वानों, शिक्षकों और कलाकारों के भी निकट संपर्क में रहे। गुरुदेव और शांतिनिकेतन दोनों ही नवजागरण और स्वतंत्रता आंदोलन की



उपज थे। रवींद्रनाथ ठाकुर और बंगाल के नवजागरण का गहरा असर उन पर था। उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन में भाग तो नहीं लिया लेकिन उनका लेखन गहरे रूप में उस संघर्ष से जुड़ा था। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि बंगाल की भूमि पर उस समय जहां एक ओर आजादी की लड़ाई में शामिल सभी तरह की धाराओं उग्र राष्ट्रवादी, सांप्रदायिक, उदार राष्ट्रवादी और वामपंथी ताकतों की शक्तिशाली उपस्थिति थी तो दूसरी ओर सांप्रदायिक आधार पर विभाजन की जो आग भभक रही थी उसका बहुत व्यापक और गहरा असर बंगाल पर था। द्विवेदी जी की विश्व दृष्टि का निर्माण आजादी के आंदोलन के दौर में और रवींद्र नाथ ठाकुर की छत्रछाया में रहते हुए हुआ था। वे अपने समय की दो महान विभूतियों से गहरे रूप में प्रभावित थे-गांधी और रवींद्र। रवींद्र नाथ के संसर्ग में रहने का तो उन्हें अवसर मिला ही था, लेकिन वे महात्मा गांधी से भी कम प्रभावित नहीं थे। संस्कृति पर टिप्पणी करते हुए गांधी ने लिखा था-मैं नहीं चाहता कि मेरे घर के चारों ओर दीवारें हों और उसकी खिड़कियां बंद हों। मैं चाहता हूँ कि मेरे घर में सभी देशों की संस्कृतियां मुक्तता से प्रवेश करें। लेकिन मैं यह नहीं चाहता कि उनसे मेरे अपने पैर अपनी जमीन से उखड़ जाएं। मैं किसी दूसरे के घर में जबरदस्ती घुसकर भिखारी या गुलाम की तरह नहीं रहना चाहता (यंग इंडिया-1-6-1921, पृष्ठ 170)। गांधी जी इस विचार को नहीं मानते थे कि भारतीय संस्कृति दुनिया की दूसरी संस्कृतियों से निराली और भिन्न है। यंग इंडिया में ही लिखते हुए उन्होंने भारतीय संस्कृति को विभिन्न

संस्कृतियों के संश्लेषण का परिणाम मानते हैं (यंग इंडिया-1-9-1920, पृष्ठ 277)। अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था कि भारतीय सभ्यता विभिन्न आस्थाओं का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्कृतियों का परिणाम है और उस पर उन भौगोलिक और परिवेशगत विशेषताओं का भी प्रभाव है जिन पर संस्कृतियों का मिलन होता है। उन्हीं के शब्दों में अरब, तुर्की, मिस्त्र और भारत में इस्लामी संस्कृति एक सी नहीं है। इन पर उन देशों का प्रभाव है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति भारतीय है। यह न तो हिंदू संस्कृति है न इस्लामी और न ही और कुछ (यंग इंडिया-30-4-1931, पृष्ठ 88)।

यह अकेले गांधीजी के विचार नहीं थे। डिस्कवरी आफ इंडिया में जवाहर लाल नेहरू ने भी लिखा था कि न लोग न जातियां अपरिवर्तनशील होती हैं। वे निरंतर दूसरे के साथ मिलती रहती हैं और धीरे-धीरे अपने को बदलती रहती हैं। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि वे समाप्त हो रही हों लेकिन नए रूप में या पुराने के ही एक बदले हुए रूप में मनुष्य का उदय हो जाता है (पृष्ठ 47)। इसी पुस्तक में वे यह भी कहते हैं कि निसंदेह यह सोचना मूर्खतापूर्ण है कि भारत या किसी अन्य देश में मनुष्य की एक ही पहचान होती है, मैं ऐसा नहीं सोचता। मैं वर्ग, जाति, धर्म, नस्ल और सांस्कृतिक विकास के विभिन्न स्तरों की दृष्टि से भारतीय जीवन में निहित विविधताओं और विभाजनों के प्रति पूरी तरह सजग हूँ। फिर भी मैं सोचता हूँ कि एक ऐसा देश जिसका लंबा सांस्कृतिक इतिहास है और जीवन के प्रति जहां एक समान दृष्टिकोण है वह अपने लिए अपनी संतानों में एक ऐसी चेतना विकसित कर सकता है चाहे वे संतानें एक दूसरे से कितनी ही अलग-अलग क्यों न हों (पृष्ठ 52)।

ऐसे ही विचार हमें द्विवेदी जी के लेखन में भी मिलते हैं। जब वे लिखते हैं भारतीय संस्कृति पठार पर जमे हुए अनेक बालुकास्तरों की भांति नाना साधनाओं और संस्कृतियों के योग से बनी है (सभ्यता और संस्कृति निबंध से हजारि प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खंड-नौ, पृष्ठ 197)। उनके लेखन का बड़ा हिस्सा इस एक वाक्य को तरह-तरह से व्याख्यायित और प्रमाणित करने का प्रयास है। लेकिन वे भारतीय संस्कृति को विभिन्न संस्कृतियों के योग से निर्मित मानने तक ही अपने विचारों को सीमित नहीं रखते। इस दृष्टि से वे वास्तव में संकीर्ण राष्ट्रवादी धारणाओं से ऊपर उठकर एक सच्चे अंतरराष्ट्रीयतावादी की तरह अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। वे लिखते हैं-मैं संस्कृति को किसी देश विशेष या जाति विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार में सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव संस्कृति हो सकती है (वही, पृष्ठ 199)। इसी संदर्भ में वे भारतीय संस्कृति की बात करते हैं। वे मानते हैं कि इस मानव संस्कृति के निर्माण में भारतीयों का जो योगदान है वही दरअसल भारतीय संस्कृति की विशिष्टता है। उनके शब्दों में मैं जब भारतीय विशेषण जोड़कर संस्कृति शब्द का प्रयोग करता हूँ तो मैं भारत वर्ष द्वारा अधिगत और साक्षात्कृत अविरोधी धर्म की ही बात करता हूँ। अपनी विशिष्ट भौगोलिक परिस्थिति में और विशेष ऐतिहासिक परंपरा के भीतर से मनुष्य के सर्वोत्तम को

प्रकाशित करने के लिए इस देश के लोगों ने भी कुछ प्रयत्न किए हैं। जितने अंश में वह संसार के अन्य मनुष्यों के प्रयत्नों का अवरोधी है उतने अंश में वह उनका पूरक भी है। भिन्न-भिन्न देशों में और भिन्न-भिन्न जातियों के अनुभूत और साक्षात्कृत अन्य अवरोधी धर्मों की भांति वह मनुष्य की जय यात्रा में सहायक है। वह मनुष्य के सर्वोत्तम को जितने अंश में प्रकाशित और

अग्रसर कर सका है, उतने ही अंश में वह सार्थक और महान है (वही भारतीय संस्कृति है वही, पृष्ठ 201)।

मानव संस्कृति के अवरोधी अंग के रूप में भारतीय संस्कृति को देखने और समझने की यह दृष्टि द्विवेदी जी को रवींद्र नाथ ठाकुर से मिली थी। अमर्त्य सेन के शब्दों में रवींद्र नाथ अपने इस विश्वास के साथ किसी तरह का समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे कि मनुष्य विभिन्न संस्कृतियों को रचनात्मक रूप में अपने में जज्ब कर सकता है। स्वयं रवींद्र के शब्दों में जो कुछ भी मनुष्य द्वारा निर्मित है वह स्वतः ही हमारा हो जाता है चाहे उसका मूल उत्स कहीं का भी हो। मुझे अपनी मानवता पर गर्व है जब मैं दूसरे देशों के कवियों और कलाकारों को अपना मानता हूँ। मनुष्य की समस्त उपलब्धियाँ मेरी हैं, इस बात को विशुद्ध व प्रसन्नचित भाव से ग्रहण करें (अमर्त्य सेन के आलेख, टैगोर ऐंड हिज इंडिया से उद्धृत, दि आग्रयूमेंटेटिव इंडियन, पृष्ठ 118-119)। रवींद्र मुक्ति को सबसे बड़ा मूल्य मानते थे। अमर्त्य सेन के शब्दों में टैगोर के लिए इस बात का सबसे अधिक महत्व था कि मनुष्य मुक्त होकर जी सके और सोच सके। राजनीति और संस्कृति, राष्ट्रीयता और अंतरराष्ट्रीयता, परंपरा और आधुनिकता इन सब को इसी विश्वास के आलोक में देखा जा सकता है। (वही, पृष्ठ 98)। अपने इस मत के पक्ष में वे गीतांजलि का एक अत्यंत लोकप्रिय गीत उद्धृत करते हैं जिसका भावार्थ है-

जहां मन भय से मुक्त हो और सिर ऊंचा हो, जहां ज्ञान मुक्त हो.

जहां संसार घर की संकीर्ण दीवारों से खंड-खंड न हुआ हो,

जहां विवेक की स्वच्छ धारा मृत आदतों के उदास रेगिस्तान में खो न गई हो,

मुक्ति के इस स्वर्ग में, मेरे पिता, मेरे देश को ले चल। (आग्रयूमेंटेटिव इंडियन से उद्धृत, पृष्ठ 98)।

रवींद्र, गांधी और नेहरू के कथनों का उल्लेख यहां इसलिए किया गया है कि इस बात को समझा जा सके कि हजारी प्रसाद के द्विवेदी के लेखन में निहित मानवतावादी दृष्टि स्वतंत्रता आंदोलन के दौर की उपज है। द्विवेदी जी का अपना चिंतन उस दौर के सर्वोत्तम विचारकों में सबसे नजदीक है। यह विचार न तो संकीर्ण राष्ट्रवाद पर आधारित हैं और न ही संस्कृति की पुररुत्थानवादी, प्रतिक्रियावादी और सांप्रदायिक धारणाओं पर आधारित। स्वाधीनता, धर्मनिरपेक्षता और मिलीजुली संस्कृति की जो लोकतांत्रिक दृष्टि गांधी, रवींद्र और नेहरू के माध्यम से प्रकट हुई थी और जिसे स्वतंत्र भारत की पहचान बनाने का प्रयास आजादी के आरंभिक वर्षों में किया गया था, हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आत्मसात किया था। इस

लोकतांत्रिक दृष्टि को वे जीवन के हर पक्ष पर लागू करते हैं। आजादी के दौर में हिंदी में इस दृष्टि को प्रेमचंद ने आत्मसात किया था, लेकिन इस दृष्टि को उन्होंने हिंदी समाज के राजनीतिक, सामाजिक जीवन के माध्यम से व्यक्त किया था। इस दृष्टि को द्विवेदी जी ने भी आत्मसात किया लेकिन इसे उन्होंने भारत के अतीत और सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन के माध्यम से व्यक्त किया। निश्चय ही प्रेमचंद की तरह द्विवेदी जी अपनी दृष्टि को समाजवाद की ओर उन्मुख नहीं कर सके लेकिन उनकी दृष्टि का समाजवाद से विरोध भी नहीं था। उनका संपूर्ण लेखन इस बात की गवाही भी देता है।

ब्राह्मण समाज में ज्यों अछूत

शांति निकेतन में अध्यापक बनकर जाने और रवींद्र के संसर्ग में आने को द्विवेदी जी अपना दूसरा जन्म मानते हैं। पहली ही मुलाकात में रवींद्र ने उनसे आशीर्वचन के रूप में कहा था, यहां का जो कुछ भी उत्तम है उसे लेना और तुम्हारे भीतर जो कुछ सर्वोत्तम है उसे देना। इसे उन्होंने महान गुरुमंत्र माना (हजारी प्रसाद ग्रंथावली, खंड नौ, पृष्ठ 477) और इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा था, यह मंत्र सदा सर्वदा मार्गदर्शक सिद्ध हुआ। हर क्षेत्र में जो सबसे अच्छा है उसे ग्रहण करो, गंदगी और गलीज की उपेक्षा करो, जो तुम्हारा सर्वोत्तम है भले ही औरों की दृष्टि में वह नगण्य हो उसे ही दो। ऋतियां और कमजोरियां तुम्हारी अपनी हैं, उन्हें मत बांटो। यह मंत्र ही मेरी वास्तविक दीक्षा का मंत्र है (वही, पृष्ठ 477)। लेकिन द्विवेदी जी ने रवींद्र से सिर्फ इतनी ही दीक्षा नहीं ली थी। वे अपने साहित्य में बार-बार जो यह बात कहते हैं कि मनुष्य जाति का कल्याण ही साहित्य का लक्ष्य है, उसकी शिक्षा भी उन्हें रवींद्र और गांधी से हो मिली थी। जब वे मनुष्य जाति के कल्याण की बात करते हैं तब उनके सामने संपूर्ण मानव जाति होती है। न भारतीय, न हिंदू, न ब्राह्मण और न ही सिर्फ हिंदी भाषी। डाक्टर धर्मवीर जैसे कुछ लेखक भले हो यह कहें कि वे द्विवेदी पहले थे और डाक्टर बाद में (कबीर के आलोचक, पृष्ठ 94)। लेकिन उनके साहित्य का कोई भी तटस्थ पाठक यह आसानी से पहचान सकता है कि द्विवेदी जी का संपूर्ण लेखन सचेत रूप से जाति, धर्म, राष्ट्र की संकीर्णताओं से मुक्त होकर लिखा गया है। लेकिन ऐसा लेखन यांत्रिक ढंग से नहीं हो सकता। लेखक को वैचारिक प्रतिबद्धता, बौद्धिक तैयारी और संस्कारबद्ध मानसिकता से निरंतर संघर्ष करते हुए लिखना होता है। इन सब के बावजूद लेखन में कुछ अंतरविरोध और कमजोरियां रह सकती हैं और उनको उजागर करना भी एक जरूरी काम है। लेकिन किसी भी लेखक का समग्र मूल्यांकन लेखन में व्यक्त लेखकीय दृष्टि और प्रतिबद्धता से ही किया जाना चाहिए। इस संदर्भ में द्विवेदी जी द्वारा भारत में जातिवाद की विभीषिका के शिकार दलित वर्ग के बारे में व्यक्त किए गए विचारों को जानना सर्वाधिक उपयुक्त होगा।

दलितों के प्रति द्विवेदी जी की सहानुभूति सिर्फ कबीर पर पुस्तक लिखने से ही व्यक्त नहीं हुई है। उनके उपन्यास और निबन्ध लेखन भी इसके

प्रमाण हैं। वे निबंधों में, जहां भी अवसर मिलता है इस समस्या पर टिप्पणी करने से नहीं चूकते हैं। वे यह बताना नहीं भूलते कि जातिवाद भारत के विकास का सबसे बड़ा अवरोध है। अपने एक निबंध में जाति भेद के दुष्परिणामों पर विचार करते हुए वे कवि रवींद्र की एक कविता का भावार्थ उद्धृत करते हैं, जिसे तुमने नीचे फेंक रखा है, वह तुम्हें नीचे से जकड़कर बांध लेगा, जिसे तुमने ढक रखा है, वह तुम्हारे समस्त मंगल को ढककर घोर व्यवधान की सृष्टि करेगा। (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड दस, पृष्ठ 26)। द्विवेदी जी यह नहीं मानते कि कोई सुधारवादी तरीका इस गहन समस्या का समाधान कर सकता है। वे लिखते हैं कि इस देश में बहुत से साधुमना व्यक्ति हैं जो समझते हैं कि वेद पढ़ा देने या जनेऊ पहना देने से इन जातियों का उद्धार हो जाएगा। बहुत से लोग इनका बनाया हुआ अन्न ग्रहण कर लेने के कारण अपने को बड़ा सुधारक समझते हैं। यह मनोवृत्ति उचित नहीं है। जन जागृति जिस दिन सचमुच होगी, उस दिन ऊंची मर्यादा वाले इनका उद्धार नहीं करेंगे, ये स्वयं अपनी मर्यादा बनाएंगे। वह एक अपूर्व समय होगा जब शताब्दियों से पददलित, निर्वाक, निरन्न जनता समुद्र की लहरियों के फूत्कार के समान गर्जन से अपना अधिकार मांगेगी। उस दिन हमारी सभी कल्पनाएं न जाने क्या रूप धारण करेंगी जिन्हें हम भारतीय सभ्यता, हिंदू संस्कृति आदि अस्पष्ट भुलाने वाले शब्दों से प्रगट किया करते हैं। मैं हैरानी के साथ सोचता हूँ कि क्या हममें उस महान ऐतिहासिक घटना को सहने का साहस है। निसंदेह यह जागृति धर्म और समाज सुधार का सहारा नहीं लेती। वह आर्थिक और राजनैतिक शक्तियों पर कब्जा करेगी। (प्रायश्चित्त की घड़ी निबंध, अशोक के फूल से, हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड नौ, पृष्ठ 445)। द्विवेदी जी जिस स्थिति की कल्पना कर रहे थे और आज वह ऐतिहासिक घटना अनावृत होने की ओर बढ़ रही है और समाज का सवर्ण वर्ग इसका किस तरह सामना कर रहा है, यह भी हमसे छिपा नहीं है। फिर भी यह कहना आवश्यक है कि किसी के जन्म का पता लगाकर उसे ब्राह्मणवादी या ब्राह्मण विरोधी बता देना आसान है और मनमर्जी से आधे-अधूरे उद्धारण चुनकर और उन्हें संदर्भ से काटकर किसी को कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है। हिंदी आलोचना में यह पराक्रम दिखाने की सुदृढ़ परंपरा रही है और यह परंपरा उस ब्राह्मणवाद का अवशेष है जिससे लड़ने का दावा डाक्टर धर्मवीर करते हैं।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि द्विवेदी जी एक ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे और यह भी दावा नहीं किया जा सकता कि वे परिवार और समाज से मिले संस्कारों से पूरी तरह मुक्त हो गए थे। लेकिन उनका आदर्श ब्राह्मणवाद नहीं था और न ही वे यह मानते थे कि वर्ण व्यवस्था और जातिवाद श्रेयस्कर हैं। इसके विपरीत वे मनुष्य को निरंतर इन पहचानों से मुक्त होकर सिर्फ मनुष्य के रूप में देखने का आग्रह करते हैं। वे कहते हैं इस देश में हिंदू हैं, मुसलमान हैं, ब्राह्मण हैं, चांडाल हैं, धनी हैं, गरीब हैं-विरुद्ध संस्कारों और विरोधी स्वार्थों की विराट वाहिनी हैं, इसमें पद पद पर गलत समझे जाने का अंदेशा है, प्रति क्षण विरोधी स्वार्थों

के संघर्ष में पिस जाने का डर है। संस्कारों और भावावेशों का शिकार हो जाने का अंदेशा है। परंतु इन समस्त विरोधों और संघातों से बड़ा और सबको छाकर विराज रहा है मनुष्य। इस मनुष्य की भलाई के लिए आप अपने आपको निःशेष भाव से देकर ही सार्थक हो सकते हैं। (हजारी प्रसाद ग्रंथावली, खंड दस, पृष्ठ 38)। मनुष्य के हित कामना की बात करते हुए वे जाति और धर्म ही नहीं, देश का भी उल्लेख नहीं करते। यही वह मनुष्यत्व है जो हर तरह की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर ही पाया जा सकता है। द्विवेदी जी की पहचान यही मनुष्यत्व है।

साहित्य का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

आधुनिकता की पहली पहचान वे ऐतिहासिक दृष्टि को मानते हैं। द्विवेदी जी जब भी किसी विषय को उठाते हैं तो प्रायः उसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं। साहित्य के इतिहास और आलोचना पर लिखते हुए तो उन्होंने ऐसा किया ही है, अपने ललित निबंधों में भी वे प्रायः इसी परंपरा को अपनाते हैं। उनका प्रख्यात ललित निबंध नाखून क्यों बढ़ते हैं? इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। नाखून क्यों बढ़ते हैं, के सीधे-सीधे प्रश्न को वे मानव सभ्यता से विकास के साथ जोड़कर देखते हैं। नाखून शरीर का ऐसा हिस्सा है जिसकी सभ्यता के आरंभिक चरण में मनुष्य के लिए उपयोगिता रही होगी, लेकिन आज उसे उसकी वैसी आवश्यकता नहीं है। वे अपने आप से प्रश्न करते हैं कि मनुष्य जब बर्बर रहा होगा तब उसे नाखून की जरूरत रही होगी। धीरे-धीरे वह अपने अंग से बाहर की वस्तुओं का सहारा लेने लगा। वे शस्त्रों के विकास का संक्षेप में इतिहास प्रस्तुत करते हैं। आज नाखून की जरूरत नहीं रह गई है। इसलिए मनुष्य अपने बच्चों को नाखून काटने के लिए कहता है। लेकिन मनुष्य की बर्बरता घटी कहां है। वे कहते हैं मैं मनुष्य के नाखून की ओर देखता हूँ तो कभी-कभी निराश हो जाता हूँ। ये उसकी भयंकर पाशवीय वृत्ति के जीवंत प्रतीक हैं। मनुष्य की पशुता जितनी बार भी काट दो, वह मरना नहीं जानती। (वही, पृष्ठ 107)। नाखून के बढ़ने को मनुष्य के विकास से भी जोड़कर पेश करते हैं मनुष्य किस ओर बढ़ रहा है? पशुता की ओर या मनुष्यता की ओर? (वही, पृष्ठ 107)। इस तरह उनका यह निबंध हथियारों की होड़ और मनुष्य जाति के सामने प्रस्तुत विनाश के संभावित खतरे को प्रभावशाली रूप में सामने रखता है।

अपने एक अन्य निबंध मेरी जन्मभूमि में वे अपने गांव के बारे में लिखते हुए वहां की विभिन्न जातियों का इतिहास प्रस्तुत करते हैं। यह इतिहास महज मनबहलाव के लिए नहीं बल्कि उसका मकसद यह बताना है कि जो आज जिस रूप में मौजूद है वह पहले वैसा नहीं था। गांव के भड़भूजे का पेशा करने वाली जाति कांदू के बारे में लिखते हैं कि गुप्त सम्राटों ने इन्हें वैश्य की मर्यादा दी। कलवार भी कभी राजपूत सैनिक थे। इसी संदर्भ में वे एक विदेशी विद्वान के इस कथन को दोहराते हैं कि मध्य प्रांत की सभी बनिया जातियों का मूल उत्स राजपूत कुल से है। इसी तरह वे दुसाध, डोम आदि अंत्यज समझी जाने वाली जातियों के उत्स पर विचार करते हुए

बताते हैं कि इन्हें आरंभ से ही ऐसा नहीं माना जाता था। वे लिखते हैं अंग्रेज लोग जब देश में राज्य स्थापना में समर्थ हुए तो उन्हें कुछ अत्यंत दुर्दात जातियों का सामना करना पड़ा। उत्तर भारत में अहीर और दुसाध तथा बंगाल में डोम बड़े लड़ाके थे और कानून मानने से सदा इनकार करते थे। (वही, पृष्ठ 98-99)। वे बताते हैं कि बंगाल के डोम सहजिया बौद्ध थे और किसी जमाने में प्रबल पराक्रांत राज्यों के अधीश्वर थे। (वही, पृष्ठ 99)। आगे वे गांव के मंदिरों, पूजास्थलों, विभिन्न देवी-देवताओं का विवरण प्रस्तुत करते हैं और बताते हैं कि किन देवी-देवताओं का संबंध किस आर्य और अनार्य परंपरा से रहा है। इसी संदर्भ में वे नई अवतरित हुई पिलेक मैया का उल्लेख करना भी नहीं भूलते जो दरअसल प्लेग माता है। वे कल्पना करते हैं कि सौ वर्ष बाद यदि कोई कहे कि प्लेग अंग्रेजी शब्द है और यह देवी अंग्रेजी साहचर्य की देन तो निष्ठावान हिंदू शायद कहने वाले का सिर तोड़ देगा। (वही, पृष्ठ 100)। इन सब का उल्लेख करते हुए वे इस बात पर अफसोस जाहिर करते हैं कि साहित्य के इतिहास में इन संस्कृति चिन्हों की कोई चर्चा क्यों नहीं है। वे लिखते हैं हमारी भाषा में इनकी स्मृति है। हमारे जीवन में इनका पदचिन्ह है। हमारी चिंता धारा में इनका कोई स्थान होगा ही नहीं, यह कैसे मान लें? परंतु साहित्य का जो इतिहास हमें पढ़ाया जाता है वह क्या मनुष्य की अप्रतिहत विजय यात्रा का कोई आभास देता है? हम क्यों नहीं अपने को पढ़ने का प्रयास करते? (यही, पृष्ठ 100)। द्विवेदी जी के कहे अनुसार यदि हमने अपने को पढ़ने, अपने को जानने का प्रयास किया होता तो हम धर्म, जाति, संस्कृति, राष्ट्र, भाषा और साहित्य संबंधी कई संकीर्णताओं से मुक्त हो गए होते और अपने से जो भिन्न नजर आ रहा है और इसी भिन्नता के कारण जिसे हम अपना विरोधी और शत्रु मान लिया है, उसमें अपना प्रतिबिंब देखते और अपने में उसका। इसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के कारण द्विवेदी जी ने हिंदी साहित्य की परंपरा को हिंदी भाषा और हिंदी भाषियों की परंपरा के रूप में ही नहीं देखा था। उसे कहीं ज्यादा व्यापक रूप में देखा था।

मयमुक्त स्वाधीनता का आदर्श

द्विवेदी जी के अनुसार आधुनिकता की दूसरी विशेषता है इसी दुनिया में मनुष्य को सब प्रकार की भीतियों और पराधीनता से मुक्त करके सुखी बनाने का आग्रह। इस संदर्भ में बाणभट्ट की आत्मकथा में बाण को दिया गया महामाया भैरवी के गुरु अधीर भैरव के उपदेश का स्मरण करना उपयुक्त होगा। अघोर भैरव ने कहा था-किसी से न डरना, गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं। (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड एक, पृष्ठ 115)। यह उपदेश कई अर्थों में अत्यंत महत्वपूर्ण है। अघोर भैरव ने उन सच बंधनों का उल्लेख कर दिया है जिससे बंधकर मनुष्य अपने जीवन को अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी नरक बना देता है। मनुष्य ने अपने को जिन रूढ़ियों से जकड़ लिया है वह जकड़न इन्हीं से पैदा होती है। लोग क्या कहेंगे, बिरादरी और समाज वाले क्या सोचेंगे? (लोक का भय), बड़े क्या सोचेंगे (गुरु का भय),

ऐसा या वैसा करना धर्म परंपरा शास्त्र के अनुकूल है या नहीं, इससे स्वर्ग मिलेगा या नरक, कौन सा काम किस मुहूर्त में करना उपयुक्त होगा? (वेद और मंत्र का भय), ऐसे सारे प्रश्नों से जकड़ा मनुष्य न स्वाधीन हो सकता है न उदारमना। रवींद्र की जिस कविता का उल्लेख पहले किया गया है उसमें ऐसी पराधीनता से मुक्त होने की बात कही गई है। डाक्टर नामवर सिंह ने हजारी प्रसाद द्विवेदी के संदर्भ में जिस दूसरी परंपरा की बात कही है वह भी स्वाधीनचेता मनुष्य के लिए ही संभव है। गुरुदेव रवींद्र नाथ ठाकुर ने जब द्विवेदी जी के सामने यह प्रश्न रखा कि क्या पूर्व पक्ष में के वे ऋषि कुछ कम पूज्य हैं जिनका खंडन उत्तर पक्ष में किया गया है? (दूसरी परंपरा की खोज, पृष्ठ 11), तो एक तरह से उन्होंने द्विवेदी जी का उन चली आ रही रूढ़ियों की जकड़न से मुक्त होने का ही आह्वान किया था। स्वाधीन मनुष्य ही परंपरा और इतिहास को नई दृष्टि से देख सकता है। वही साहित्य के इतिहास को नई दृष्टि दे सकता है।

द्विवेदी जी की मानवतावादी दृष्टि अपने समस्त सोच और चिंताओं के केंद्र में मनुष्य को रखती है। लेकिन यह मनुष्य कोई अमूर्त और रहस्यमय सत्ता नहीं है। इसे वे बार-बार अपने लेखन में स्पष्ट करते हैं। अपने निबंध मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है में वे लिखते हैं जो साहित्य मनुष्य समाज को रोग शोक, दारिद्र्य, अज्ञान तथा परमुखापेक्षिता से बचाकर उसमें आत्मबल का संचार करता है, वह निश्चय ही अक्षय निधि है (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड दस, पृष्ठ 25)। अपने लेखन के लिए मनुष्य समाज को परिभाषित करते हुए लिखते हैं-भारत के हजारों गांवों और शहरों में फैली हुई सैकड़ों जातियों और उपजातियों में विभक्त सभ्यता की नाना सीढ़ियों पर खड़ी हुई जनता ही हमारे समस्त कर्तव्यों की लक्ष्मीभूत श्रोता है, उसका कल्याण ही साध्य है। बाकी सब कुछ साधन है। (वही पृष्ठ 29)। वे अपने एक अन्य निबंध मनुष्य की सर्वोत्तम कृति साहित्य में लिखते हैं कि जो जाति जितनी अधिक सौंदर्यप्रेमी हो उसमें मनुष्यता भी उतनी ही अधिक होती है। जाति का यह सौंदर्यप्रेम उनके अनुसार उसके साहित्य और कला में व्याप्त रहता है। (वही, पृष्ठ 20) लेकिन वे यह भी कहते हैं कि साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की उपेक्षा नहीं कर सकते। हम सारे वाह्य जगत को असुंदर छोड़कर सौंदर्य की वृष्टि नहीं कर सकते। सुंदरता सामंजस्य का नाम है जिस दुनिया में छुटाई और बढ़ाई में, धनी और निर्धन में ज्ञानी-अज्ञानी में आकाश पाताल का अंतर हो वह दुनिया वाह्य सामंजस्यमय नहीं कही जा सकती और इसलिए वह सुंदर भी नहीं है। इस वाह्य सुंदरता के दूर पर खड़े होकर आंतरिक सौंदर्य की उपासना नहीं हो सकती। हमें उस वाह्य असुंदर को देखना ही पड़ेगा। निशस्त्र, निर्वसन जनता के बीच खड़े होकर आप परियों के सौंदर्यलोक की आप कल्पना नहीं कर सकते। साहित्य सुंदर का उपासक है, इसलिए साहित्यिक को असामंजस्य को दूर करने का प्रयत्न करना होगा, अशिक्षा और कुशिक्षा से लड़ना होगा, भय और ग्लानि से लड़ना होगा। सौंदर्य और असौंदर्य का कोई समझौता नहीं हो सकता। सत्य अपना पूरा मूल्य चाहता है। उसे पाने का सीधा और एक मात्र रास्ता उसकी कीमत चुका देना ही

है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है। हमारे देश का बाह्य रूप न तो आंखों की प्रीति देने लायक है, न कानों को, न मन को, न बुद्धि को। यह सच्चाई है। (वही, पृष्ठ 36)। ऐसी ओजपूर्ण भाषा में सच कहने का यह साहस द्विवेदी जी के लेखन की ऐसी विशेषता है जिसे डाक्टर नामवर सिंह ने उनके अपने जनपद की विभूति (दूसरी परंपरा की खोज, पृष्ठ 15) कहा है।

व्यक्ति मानव बनाम समष्टि मानव

साहित्य के बारे में द्विवेदी जी के विचारों से स्पष्ट है कि वे साहित्य का लक्ष्य मनुष्य मात्र की कल्याण कामना मानते हैं। यही आधुनिकता की तीसरी विशेषता है। व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि मानव या संपूर्ण मानव समाज की कल्याण कामना। आधुनिकता के बारे में विचार करते हुए ही वे साहित्य की ऐसी चार प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं जिन्हें आधुनिकता के दायरे से वे बाहर मानते हैं। ये हैं पुनरुत्थानवाद, रहस्यवाद, काम और यौन को ही महत्व देने वाला साहित्य और मनोविश्लेषणवादी साहित्य। इन चारों पर टिप्पणी करते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं- ये चारों प्रकार के विचार आधुनिकतावादी विचारक की दृष्टि में समाज को आगे बढ़ाने के बजाय पीछे ढकेलते हैं और उस व्यवस्था को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जीवित रखने में सहायक होते हैं जो समाज के पिछड़े और उपेक्षित अंगों के शीषण पर ही आधारित है (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड नौ, पृष्ठ 361)। द्विवेदी जी के इस मत से शायद ही किसी प्रगतिशील और जनोन्मुखी साहित्य के पक्षधर को विरोध हो सकता है। हां, यह जरूर है कि हिंदी में आधुनिकतावादी रचनाकारों के रूप में अपनी पहचान रखने वाले अधिकांश लेखक उपर्युक्त चार में से ही सही किसी न किसी श्रेणी में परिगणित होंगे। मुक्तिबोध ने भी अपने लेखन में आधुनिकता बोध की दो श्रेणियों की थीं और उसके आधार पर एक प्रगतिशील और जनोन्मुखी विचारधारा में यकीन रखने वाले और दूसरे व्यक्तिवाद, मनोविश्लेषणवाद और यौन वर्जनाओं को सब कुछ समझने वाले नई कविता के कवियों के पहचान की थी। (मुक्तिबोध रचनावली भाग पाँच पृष्ठ 176-178)। द्विवेदी जी इस दूसरे तरह के आधुनिकतावादियों को आधुनिकतावाद के दायरे से बाहर कर देते हैं। वैसे भी आधुनिकता कोई नकारात्मक धारणा नहीं है और द्विवेदी जी ने इसे नकारात्मक रूप में लिया भी नहीं है।

हिंदी साहित्य में ललित निबंध को प्रतिष्ठा दिलाने का काम द्विवेदी जी ने किया था। उनके बाद के रचनाकारों यथा विद्यानिवास मिश्र, कुबेर नाथ राय, विवेकी राय आदि के निबंधों को पढ़कर कई बार द्विवेदी जी को भी उन जैसा ही रूढ़िवादी-परंपरावादी मान लिया जाता है लेकिन ऐसा बिल्कुल नहीं है। प्रकृति के जिन रूपों पर उन्होंने निबंध लिखे हैं और जो काफी लोकप्रिय भी हैं, यदि उनका ध्यान से अध्ययन किया जाए तो यह समझना मुश्किल नहीं होगा कि वहां भी उनकी दृष्टि मनुष्य के कल्याण पर ही टिकी रहती है। हर कहीं वे मनुष्य की जय यात्रा का उद्घोष करते दिखाई देते हैं। वे मनुष्य को उसकी वैचारिक संकीर्णता और स्वार्थ कामना

से मुक्त करने की कोशिश करते नजर आते हैं। अपने प्रसिद्ध निबंध अशोक के फूल में वे मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा की व्याख्या करते हुए लिखते हैं-मुझे मानव जाति की दुर्दम निर्मम धारा के हजारों वर्ष का रूप साफ दिखाई दे रहा है। मनुष्य की जीवनी शक्ति बड़ी निर्मम है। वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों को रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्माचारों, विश्वासों, उत्सवों और व्रतों को धोती-बहाती यह जीवन धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है। हमारे सामने समाज का अब जो रूप है वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है। देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बाद की बात है। सब कुछ में मिलावट है, सब कुछ अविशुद्ध है, शुद्ध है केवल मनुष्य की दुर्दम जिजीविषा (जीने की इच्छा)। वह गंगा की अबाधित, अनाहत धारा के समान सब कुछ हजम करने के बाद भी पवित्र है। (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड नौ, पृष्ठ 23)। इस निबंध में द्विवेदी जी का पंडित रूप भी निखर कर सामने आता है। वे अशोक के फूल के बहाने भारत में आई विभिन्न जातियों का उल्लेख करते हैं। वे बताते हैं कि न जाने कितनी जातियां यहां आईं और आज के भारत वर्ष को बनाने में अपना हाथ लगा गईं। (वही, पृष्ठ 20)। अशोक का फूल भी उनके अनुसार गंधर्वों व यक्षों की देन है। (वही, पृष्ठ 22)। कुटज निबंध में वे कुटज शब्द की उत्पत्ति पर विचार करते हुए अनुमान लगाते हैं कि यह आर्य जाति का तो नहीं जान पड़ता। (वहीं, पृष्ठ 31)। इसी संदर्भ में वे याद दिलाते हैं कि संस्कृत भाषा में अनेक ऐसे शब्द हैं जो दूसरे भाषा परिवारों से आए हैं। कुटज भी संभवतः आस्ट्रोएशियाटिक परिवार या पुराने साहित्य में जिसे कोल परिवार कहा गया है, का शब्द हो सकता है। कुटज की प्राकृतिक विशेषताओं को विपरीत परिस्थितियों में भी उसकी बनी रहने वाली दुरंत जीवन शक्ति की तुलना मनुष्य की स्वार्थ प्रवृत्ति से करते हुए वे लिखते हैं कि कुटज क्या केवल जी रहा है? वह दूसरे के द्वार पर भीख मांगने नहीं जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नहीं हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए दूसरों का जूता नहीं चाटता फिरता, दूसरों को अपमानित करने के लिए ग्रहों की खुशामद नहीं करता, आत्मोन्नति के लिए नीलम नहीं धारण करता, अंगूठियों की लड़ी नहीं पहनता, दांत नहीं निपोरता, बंगले नहीं झांकता। जीता है और शान से जीता है-(वही पृष्ठ 33)। यह जो स्वार्थ के दायरे से ऊपर उठकर जीने की बात द्विवेदी जी कहते हैं वह मनुष्य की कल्याण कामना के उनके लक्ष्य के अनुरूप है जिसे वे मनुष्य और साहित्य दोनों का लक्ष्य मानते हैं। द्विवेदी जी ने प्रकृति के विभिन्न रूपों पर बहुत से निबंध लिखे हैं और प्रत्येक निबंध में प्रकृति के उस विशिष्ट रूप के इतिहास का विस्तृत लेखा-जोखा भी प्रस्तुत किया है लेकिन यह विवरण अपने ज्ञान का आतंक कायम करने के लिए नहीं जैसा की प्रायः बाद के कई ललित निबंधकारों के यहां नजर आता है। इसके विपरीत उनका मकसद यही रहा है कि वे यह बताएं कि जिसे हम भारत की संस्कृति और परंपरा कह रहे हैं और जिसे हम हिंदू संस्कृति और परंपरा के रूप में पहचाने जाने का आग्रह

करते हैं वह कोई शुद्ध आर्य चीज नहीं है। यही नहीं, ऐसी बहुत सी परंपराएं, जिन्हें आज शुद्ध आर्य और हिंदू समझा जा रहा है वे अपने मूल में दरअसल अनार्य हैं। उन अनार्यों को आर्यों ने राजनीतिक संघर्ष में भले ही पराजित कर दिया हो, लेकिन आर्यों के सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन पर वे लगातार गहरी छाप छोड़ते रहे हैं। वे इस विवाद में नहीं पड़ते कि जिसे हम आज भारतवर्ष कहते हैं उस भूमि पर कई जातियां आईं और यहां आकर बस गईं। वे अपने साथ अपनी सभ्यता और अपनी संस्कृति भी लेकर आई थीं। आज का भारत इन सभी सभ्यताओं और संस्कृतियों के पारस्परिक संघर्ष और सम्मिलन का परिणाम है। वे इस सत्य को कभी भी अपनी नजरों से ओझल नहीं होने देते इसलिए वे अपने लेखन में यह प्रमाणित करते नजर नहीं आते कि भारत ने किसको क्या-क्या दिया। उनका बल हिसाब-किताब और हानि लाभ पर नहीं रहता जबकि अपने मार्क्सवादी होने का दावा करने वाले कुछ हिंदी के विद्वान ऐसे विषयों पर लिखते हुए यही प्रमाणित करते नजर आते हैं। (दृष्टव्य भगवान सिंह की पुस्तक हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य और डाक्टर राम विलास शर्मा की पुस्तक भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश)।

साहित्य में वैज्ञानिक दृष्टि का प्रतिपादन

भारत की सभ्यता और संस्कृति में विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के योगदान की बात वे किसी राजनीतिक मकसद से नहीं करते, बल्कि जिस बात की ओर कम ध्यान दिया गया है, वह यह कि इसके पीछे एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी काम करता रहा है। द्विवेदी जी मानव सभ्यता के विकास की बात करते हुए इस बात को नहीं भूलते कि इस पृथ्वी पर मानव जीवन कैसे अस्तित्व में आया और किस तरह मानव विकास करता हुआ आज की मंजिल तक पहुंचा। ब्रह्मांड का विस्तार शीर्षक लेख में वे सृष्टि के विस्तार का वही विवरण प्रस्तुत करते हैं जिसे वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। यही नहीं, ज्योतिष पर लिखे अपने निबंधों में भी वे सृष्टि के विकास की उसी धारणा को प्रस्तुत करते हैं और यह बताते हैं कि ज्योतिष की पूर्व धारणाओं में किस तरह अंतर आता रहा है। अपने इसी वैज्ञानिक दृष्टि के कारण, वे मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों के बीच के अंतर को भी विवेकपूर्ण ढंग से रखने में समर्थ हुए हैं। उनके अनुसार, मनुष्य और मनुष्येतर जीव-जगत में विकास प्रयत्नपूर्वक किया गया। मनुष्येतर जगत में इच्छा तो है पर उसको रूप देने की क्षमता उसमें नहीं है। मनुष्य में इच्छा भी है और उसे रूप देने का सामर्थ्य भी (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड दस, पृष्ठ 19)। अपने साहित्य में वे कदम कदम पर निरंतर वैज्ञानिक दृष्टि से तथ्यों और विचारों का विश्लेषण करते हैं और उसी के आधार पर उन्हें स्वीकार और अस्वीकार करते हैं। आधुनिक साहित्य की नई मान्यताओं पर विचार करते हुए वे डार्विन के विकासवाद का उल्लेख करते हैं और अपना यह मत प्रस्तुत करते हैं कि डार्विन ने जीव विज्ञान के क्षेत्र में विकासवाद का प्रतिपादन किया जिसे सच्चे अर्थों में आधुनिकता की नींव कहा जा सकता है। इसने हर क्षेत्र में मनुष्य को नई दृष्टि दी। आज

शायद ही कोई ऐसा ज्ञान-विज्ञान हो जिसे इस विकासवाद के सहारे समझने का यत्न न किया जाता हो। सब प्रकार के आध्यात्मिक दर्शन, सब प्रकार की अलौकिक समझी जाने वाली सौंदर्य भावना और रस संवेदना, सब प्रकार की कर्म प्रणालियां इसकी लपेट में आ गईं। साहित्य के विविध तत्व छंद, अलंकार, शैली, भाषा प्रतिपादन-इस सिद्धांत के सहारे अधीन और व्याख्यायित हुए। यहीं से मनुष्यों ने विचारों के इतिहास की बात सोची। भावनाओं के क्रम विकास का अध्ययन शुरू किया और मानस ग्रंथियों की ऐतिहासिक विकास परंपरा को समझने का प्रयत्न किया। यहां से साहित्य को नए रूप में देखा जाने लगा। उसके प्रगमन और प्रतिगमन के कारणों पर विचार किया जाने लगा और उसके संबंध में नई दृष्टि प्रतिष्ठित हुई। (वही, पृष्ठ 77)। इसी विकासवाद के साथ वह उस नव मानवतावाद को जोड़कर देखते हैं जिससे द्विवेदी जी के संपूर्ण चिंतन को परिभाषित किया जा सकता है। विकासवाद इस नव मानवतावाद से किस तरह संबद्ध है, इसे परिभाषित करते हुए वे लिखते हैं- मनुष्य के रूप में ही सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी विकसित हुआ है। मनुष्य देह में ही मन और बुद्धि का भावावेग और तर्कयुक्ति के आश्रय इंद्रिय विशेष का विकास हुआ है। यह संसार क्या है और कैसा है? इसके जानने का एकमात्र साधन मनुष्य की बुद्धि है। इस जगत में जो कुछ सत्य है, वह मनुष्य दृष्टि में देखा हुआ सत्य है। अतएव मानव सत्य है। (वही, पृष्ठ 78)। यही मानव सत्य मानवतावाद का आधार है।

मानवतावाद की प्रतिष्ठा

द्विवेदी जी के लिए मानवतावाद सिर्फ साहित्यिक सिद्धांत नहीं था बल्कि इसी ने उन्हें वह दृष्टि दी कि वे भारतवर्ष को पूर्णता में देख सकें और उसे अपने साहित्य में जगह दे सकें। वे वर्तमान भारत की उन कमजोरियों के प्रति भी सजग थे जो अंदर ही अंदर उसे खोखला कर रही थीं। बार-बार मनुष्य जाति की आंतरिक एकता पर बल देने का कारण भी यही था। अपने एक निबंध 'ठाकुर जी की बटोर' में वे जातिवाद पर गहरा प्रहार करते हैं। अपने गांव के पास के एक ठाकुरबाड़ी की दुर्दशा से विचलित होकर बुलाई गई सभा में जब एक पंडित जी यह बताते हैं कि ठाकुर जी की पूजा पिछले तीन साल से शास्त्र निषिद्ध विधि से होती रही है क्योंकि वर्तमान में जो साधु पूजा कर रहे हैं वह भी ब्राह्मण नहीं हैं और इससे पूर्व भी जो साधु पूजा करते थे वह भी ब्राह्मण नहीं थे। उन पंडित जी के अनुसार शास्त्र के मत से ठाकुर जी उसी जाति के हाथ का पूजा ग्रहण करते हैं जिस जाति में पुजारी का जन्म हुआ रहता है। इसीलिए यह, अत्यन्त स्पष्ट बात है कि ब्राह्मण ऐसे ठाकुर जी को पूज्य नहीं समझ सकता। उन पंडित जी का यह भी विचार था कि अनाधिकारी की पूजा से गांव का अमंगल हो रहा है। इसलिए पहले अब्राह्मण साधु को स्थानच्युत किया जाए। फिर राग-भोग की व्यवस्था बाद में होती रहेगी। (वही, पृष्ठ 167)। द्विवेदी जी के सामने ऐसे कई प्रसंग उभर आते हैं जब शूद्र से भी निम्न कुल में जन्म लेने वाले भक्तों की महान परंपरा में पूजे गए और गिने गए, उन्हें मंदिरों का प्रधान

अधिकारी बनाया था। विठ्ठल नाथ जी ने अपने शूद्र शिष्य कृष्ण दास अधिकारी को जो अष्टछाप के एक कवि भी थे, श्रीनाथ जी के मंदिर का प्रधान अधिकारी बनाया था। महाकवि चैतन्य ने मुसलमान भक्त हरिदास का चरणोदक हठ के साथ छक कर पिया था। द्विवेदी जी अत्यन्त विचलित होकर उस सभा में कहते हैं जो ठाकुर जाति विशेष की पूजा ग्रहण करके ही पवित्र रह सकते हैं, जो दूसरी जाति की पूजा ग्रहण करके अग्राह्य चरणोदक हो जाते हैं, वे मेरी पूजा नहीं ग्रहण कर सकते। मेरे भगवान दीन-हीन और पतितों के भगवान हैं। जाति और वर्ण से परे के भगवान हैं। धर्म और संप्रदाय के ऊपर के भगवान हैं। वे सबकी पूजा ग्रहण कर सकते हैं और पूजा ग्रहण करके अब्राहमण, चांडाल सबको पूज्य बना सकते हैं। (वही, पृष्ठ 168)। धर्म, जाति, भाषा आदि के नाम पर भारतीय समाज में व्याप्त विषमताओं को लेकर द्विवेदी जी चिंतित रहते थे। उन्होंने अपने लेखन द्वारा निरंतर यह प्रयत्न किया कि ये भेदभाव जो भारत की प्रगति के मार्ग के सबसे बड़े अवरोधक हैं, समाप्त हो जाएं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के निर्माण में अनार्य कही जाने वाली जातियों के योगदान की विस्तृत चर्चा का कारण यही है कि वे बार-बार यह बताना चाहते हैं कि जाति प्रथा कोई ऐसी चीज नहीं है जो शास्वत हो और जिससे मुक्त नहीं हुआ जा सकता।

इसी तरह वे हिंदुओं और मुसलमानों के बीच जारी भेदभाव और संघर्ष को भी उतना ही गंभीर मानते हैं। वे इस बात पर चिंता व्यक्त करते हैं कि आज हम प्रत्येक बात को हिंदू और मुसलमान दृष्टिकोण से देखने के आदी हो गए हैं मानो ऐसा कोई दृष्टिकोण ही नहीं है जिससे हिंदू और मुसलमान एक साथ ही देख सकें। (वही, पृष्ठ 170)। यही कारण है कि वे अपने लेखन में जहां भी अवसर मिलता है, वहां यह बताना नहीं भूलते कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में मुसलमानों ने विधिवत अध्ययन किया था, उसके विकास में भी ये अन्य जतियों और का भी अप्रतिम योगदान रहा है। ज्योतिष शास्त्र, जिसका उन्होंने धर्म के योगदान को स्वीकार करते हैं। इसवी सन, हिजरी सन और शक संवत को विदेशी मानने वाले और विक्रमी संवत को ही हिंदू और इसलिए राष्ट्रीय संवत मानने वाले सांप्रदायिक सोच वाले लोगों को द्विवेदी जी के ज्योतिर्विज्ञान पर लिखे लेखों का अध्ययन करना चाहिए। अपने एक निबंध नया वर्ष आ गया में इस कथित राष्ट्रीय संवत पर विस्तृत चर्चा करते हुए वे निष्कर्ष रूप में लिखते हैं कि इसके साथ असुरों, यवनों, शकों और आर्यों की दीर्घ साधना से उपलब्ध ज्ञानों की स्मृति जुड़ी हुई है, वह ईसाइयों और यहूदियों के सांस्कृतिक संघर्ष की याद दिला जाता है और हिंदुओं और मुसलमानों की सम्मिलित प्रतिभा की स्मृति भी जगा देता है और ऐसा कहते हुए उनके मस्तिष्क में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच जारी सांप्रदायिक संघर्ष भी रहा होगा, इसलिए वे आगे जोड़ते हैं, जो लोग दुविधा में पड़े हुए हैं, उन्हें आश्वासन दे जाता है कि ये विकट भूकटियां ज्यादा दिन तक परेशान नहीं करेंगी, ये स्वार्थ संघात क्षणिक हैं। कठोर संघर्ष के भीतर भी मनुष्य की मिलन भूमि तैयार होती रहती है। (वही, पृष्ठ 96)

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मनुष्य जाति को धर्म, संप्रदाय, जाति, नस्ल, लिंग, क्षेत्र और भाषा के आधार पर खंड-खंड कर देखा जा सकता है और इसी खंड-खंड मनुष्य को ही सच्चाई मानकर उसको अपने साहित्य में जगह देने वाला साहित्य भी लिखा जाता रहा है। यह खंड-खंड मनुष्य सच है, लेकिन यह साहित्य का लक्ष्य नहीं हो सकता। साहित्य का लक्ष्य तो संपूर्ण मनुष्य ही हो सकता है। साहित्य के द्वारा साहित्यकार इसी संपूर्ण मनुष्य की तलाश करता है और अपना यही संदेश वह अपने पाठकों तक पहुंचाना चाहता है।

भाषा साध्य है साधन नहीं

अपनी बात को अपने पाठकों तक पहुंचाने का माध्यम उसकी भाषा है। यहां भी हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदीपरस्त अंधराष्ट्रवादियों की तरह नहीं सोचते। वे इस बात को महत्व ही नहीं देते कि किस भाषा का वर्चस्व कायम है और किस भाषा को ज्यादा महत्व दिया जाना चाहिए। न ही वे भाषा को राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति का आधार मानते हैं। उनके विचार में, भाषा महज एक माध्यम है, एक साधन है। स्वयं उनके शब्दों में, मनुष्य ही बड़ी चीज है, भाषा उसी की सेवा के लिए है। (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड दस, पृष्ठ 25)। वे इस सत्य को नहीं भूलते कि वर्तमान हिंदू समाज में एक दो नहीं, बल्कि दर्जनों ऐसी जातियां हैं जो अपनी मूल भाषाएं भूल चुकी हैं और आर्य भाषा बोलती हैं। (वही, पृष्ठ 27)। वे इस ऐतिहासिक तथ्य को भी स्वीकार करते हैं कि ब्राह्मण प्रधान धर्म ने जातियों का कुछ इस प्रकार स्तर विभाग स्वीकार किया है कि निम्न श्रेणी की जातियां ऊपर उठने के लिए संस्कृत भाषा की प्रधानता स्वीकार करती रही हैं। (वही, पृष्ठ 27)। इसके बावजूद वे साहित्य लेखन के लिए भाषा का निर्णय इस बात से तय नहीं करते कि भाषा की सामाजिक और राजनीतिक हैसियत क्या है। वे इसका निर्णय उन करोड़ों लोगों को दृष्टि में रखकर करते हैं जो दीर्घकाल से आलोक से वंचित हैं। शताब्दियों से गौरव से हीन इन मनुष्यों में हमें आत्म-गरिमा का संचार करना है। अकारण अपमानित इन मूक नर कंकालों को हमें वाणी देनी है। रोग, शोक, अज्ञान, भूख, प्यास, परमुखापेक्षिता और मूकता से इनका उद्धार करना है। साहित्य का यही काम है। (वही, पृष्ठ 28)। और इसीलिए वे लेखकों को संबोधित करते हुए कहते हैं कि, आप क्या लिखेंगे, कैसे लिखेंगे और किस भाषा में लिखेंगे, इन प्रश्नों का निर्णय इन्हीं की ओर देखकर कीजिए (वही, पृष्ठ 28)। इसी आदर्श से जब वे हिंदी लेखन को देखते हैं तो वे इस बात पर अफसोस जाहिर करते हैं कि हिंदी का साहित्य संसार बहुत ही दरिद्र है। वे हिंदी समाज से और अपने आप से ही यह प्रश्न पूछते हैं, हिंदी में कितने जन समूहों के परिचायक ग्रंथ लिखे हैं? इस विशाल मानव समाज की रीति-नीति, आचार-विचार, आशा आकांक्षा, उत्थान-पतन समझने के लिए हमारी भाषा में कितनी पुस्तकें हैं? इनके जीवन को सुखमय बनाने के साधनों, इनकी भूमि, इनके पशु, इनके विनोद सहचर, इनके पेशे, इनके विश्वास, इनकी नई-नई मनोवृत्तियों का

हमने क्या अध्ययन प्रस्तुत किया है? कहां है सहानुभूति और दर्द का प्रमाण, जिसे आप गणदेवता के सामने रख सकेंगे। वे बिल्कुल सही कहते हैं कि हिंदी की उन्नति का अर्थ उसके बोलने और समझने वालों की उन्नति है। (वही, पृष्ठ 28)।

कुछ अंतरविरोध

मनुष्य को ही साहित्य का लक्ष्य मानने वाले द्विवेदी जी ने आधुनिकता के मूल्यों को गहरे रूप में आत्मसात किया है, यह देखकर आश्चर्य होता है कि वे फलित ज्योतिष जैसी एक अत्यंत अवैज्ञानिक धारणा से कैसे चिपके रहे? फलित ज्योतिष पर लिखे अपने लेख में, वे फलित ज्योतिष को यद्यपि भारत की देन नहीं, उसे बाहरी प्रभाव मानते हैं और बाणभट्ट की आत्मकथा और कई निबंधों में वे फलित ज्योतिष की आलोचना भी करते हैं। यहीं नहीं, अपने एक निबंध 'लड़ाई खत्म हो गई' में शिव प्रसाद सिंह के हवाले से वे लिखते हैं, मैं ज्योतिष जानता हूँ, वे मानते हैं।

द्विवेदी जी की ज्योतिषशास्त्र पर संकलित एक *आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और आधुनिक लोकतांत्रिक दृष्टि*

उत्तर प्रदेश के पूर्वी छोर पर स्थित बलिया जनपद का मशहूर ददरी मेला अपने शबाब पर है। हिंदू पंचांग से प्रतिवर्ष कार्तिक पूर्णिमा पर लगने वाला यह मेला उसे इलाके की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक गतिविधियों का केंद्र तो बनता ही है, वहां साहित्यिक जमावड़ा भी खूब होता है। आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रथम पुरुष भारतेंदु हरिश्चंद्र मंच की ओर से साहित्यिक सांस्कृतिक कार्यक्रमों की श्रृंखला पूरे महीने भर चलती रहती है। इस मंच को समृद्ध करने वालों की एक लंबी परंपरा और उनका इतिहास साहित्य के समक्ष साक्षी भाव से विद्यमान है। मौजूद फेहरिस्त का जब हम सांगोपांग समीक्षा करते हैं तो सबसे सुरीला स्वर हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का ही सुनाई देता है। अपने साहित्य सृजन, आलोचना, इतिहास दृष्टि, और खासकर ललित निबंधों से चमत्कृत कर देने वाले द्विवेदी जी ने समर्पण भाव से इसे सींचा, आगे बढ़ाया और एक नई दिशा दी। एक सौ अठारह साल पहले उनका जन्म उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के ओझवलिया गांव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उन्होंने अपनी प्रारंभिक शिक्षा दीक्षा काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्रात की और वह भी ज्योतिष शास्त्र में। उनकी वेशभूषा पंडितों जैसी थी। उनके लेखन का बड़ा हिस्सा परंपरा के विश्लेषण और मूल्यांकन से संबद्ध है। वे अपने लेखन में प्रायः संस्कृत और आवश्यकतानुसार प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं से उद्धरण देते हैं। यही नहीं, वे अपने लेखन में धार्मिक, पौराणिक प्रसंगों, प्रतीकों, मिथकों और शब्दों का बार बार प्रयोग करते हैं। इन सब तथ्यों के कारण उन्हें परंपरावादी और पंडिताऊ किस्म का विद्वान समझा जाता रहा है। लेकिन उनका लेखन ही इस बात का प्रमाण है कि न तो वे रूढ़ अर्थों में परंपरावादी थे और न ही उनका लेखन पंडिताऊ किस्म का है। इसके विपरीत वे सच्चे अर्थों में संस्कृति और साहित्य के आधुनिक दृष्टि संपन अध्येता और संवेदनशील रचनाकार थे। उनका संपूर्ण लेखन जनोन्मुखी,

लोकतांत्रिक व धर्मनिरपेक्ष मूल्यों से गहरे रूप से न केवल प्रभावित है बल्कि वे संपूर्ण परंपरा का अवलोकन व मूल्यांकन इन्हीं आधुनिक मूल्यों द्वारा करते हैं। यह अवश्य है कि उनके लेखन और जीवन दर्शन में कई तरह के अंतरविरोध भी निहित हैं लेकिन ये अंतरविरोध इन बुनियादी जीवन मूल्यों के प्रति उनकी सच्ची और गहरी आस्था को कहीं भी खंडित नहीं करते।

द्विवेदी जी ने अपने लेखन की शुरुआत बीसवीं सदी के जिस दौर में की थी उस समय देश में आजादी का संघर्ष अपने अंतिम चरण में प्रवेश कर रहा था। इस दौर में यदि एक ओर वामपंथी आंदोलन का उदय हो रहा था तो दूसरी ओर हिंदू और मुसलिम सांप्रदायिक शक्तियां भी तेजी से बढ़ रही थीं। पाकिस्तान की मांग सामने आ चुकी थी। आजादी की तरफ बढ़ते कदम के साथ यह सवाल भी सामने आ रहा था कि आजाद भारत कैसा होगा? उसमें गरीबों, दलितों, स्त्रियों को भी क्या वैसी ही आजादी और वैसा ही अधिकार मिलेंगे जो अमीरों, ऊंची जाति वालों और पुरुषों को प्राप्त होंगे। बाबा साहब अंबेदकर दलितों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्रों की मांग रख चुके थे। इसी दौरान देश को आजादी भी मिली और पूर्व और पश्चिम के कुछ हिस्से अलग होकर एक नया देश पाकिस्तान अस्तित्व में आया। बंगाल का विभाजन होकर पूर्वी पाकिस्तान बना। विभाजित भारत ने फिर भी लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष गणराज्य बनाने का भी फैसला किया।

यह दौर विश्व स्तर पर भी

अशांति और संघर्षों का दौर था। यूरोप में साम्राज्यवादी देशों के पारस्परिक अंतरविरोधों ने तथा अंधराष्ट्रवाद और नस्लवाद के गठजोड़ से पैदा हुए फासीवाद ने उसे विश्वयुद्ध में धकेल दिया। इस युद्ध की चपेट से एशिया और अफ्रीका के वे देश भी नहीं बच सके जो साम्राज्यवादी देशों द्वारा उपनिवेश बनाए गए थे। जर्मनी के तत्कालीन शासक हिटलर ने साठ लाख यहूदियों को यातना शिविरों में तड़पा-तड़पा कर मार डाला। इस युद्ध में करोड़ों सैनिक और असैनिक मारे गए। अमेरिका द्वारा जापान के दो शहरों पर अणु बम का इस्तेमाल किया गया। इस पृष्ठभूमि को नजर में रखे बिना हजारी प्रसाद द्विवेदी के लेखन को नहीं समझा जा सकता।

गुरुदेव और द्विवेदी जी

हिंदी शिक्षक के रूप में हजारी प्रसाद द्विवेदी जी 23 वर्ष की अवस्था में 1930 में शांति निकेतन चले गए और बीस वर्ष तक ये वहां अध्यापन कार्य करते रहे। लगभग बारह वर्ष तक उन्हें रवींद्र नाथ ठाकुर के निकट संपर्क में रहने का अवसर मिला। (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खंड आठ पृष्ठ 271) साथ ही इन बीस सालों में वे शांति निकेतन में कार्य करने वाले तत्कालीन विद्वानों, शिक्षकों और कलाकारों के भी निकट संपर्क में रहे। गुरुदेव और शांतिनिकेतन दोनों ही नवजागरण और स्वतंत्रता आंदोलन की उपज थे। रवींद्रनाथ ठाकुर और बंगाल के नवजागरण का गहरा असर उन पर था। उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन में भाग तो नहीं लिया लेकिन उनका लेखन गहरे रूप में उस संघर्ष से जुड़ा था। यह भी नहीं भूलना चाहिए कि

बंगाल की भूमि पर उस समय जहां एक ओर आजादी की लड़ाई में शामिल सभी तरह की धाराओं उग्र राष्ट्रवादी, सांप्रदायिक, उदार राष्ट्रवादी और वामपंथी ताकतों की शक्तिशाली उपस्थिति थी तो दूसरी ओर सांप्रदायिक आधार पर विभाजन की जो आग भभक रही थी उसका बहुत व्यापक और गहरा असर बंगाल पर था। द्विवेदी जी की विश्व दृष्टि का निर्माण आजादी के आंदोलन के दौर में और रवींद्र नाथ ठाकुर की छत्रछाया में रहते हुए हुआ था। वे अपने समय की दो महान विभूतियों से गहरे रूप में प्रभावित थे-गांधी और रवींद्र। रवींद्र नाथ के संसर्ग में रहने का तो उन्हें अवसर मिला ही था, लेकिन वे महात्मा गांधी से भी कम प्रभावित नहीं थे। संस्कृति पर टिप्पणी करते हुए गांधी ने लिखा था-मैं नहीं चाहता कि मेरे घर के चारों ओर दीवारें हों और उसकी खिड़कियां बंद हों। मैं चाहता हूँ कि मेरे घर में सभी देशों की संस्कृतियां मुक्तता से प्रवेश करें। लेकिन मैं यह नहीं चाहता कि उनसे मेरे अपने पैर अपनी जमीन से उखड़ जाएं। मैं किसी दूसरे के घर में जबरदस्ती घुसकर भिखारी या गुलाम की तरह नहीं रहना चाहता (यंग इंडिया-1-6-1921, पृष्ठ 170)। गांधी जी इस विचार को नहीं मानते थे कि भारतीय संस्कृति दुनिया की दूसरी संस्कृतियों से निराली और भिन्न है। यंग इंडिया में ही लिखते हुए उन्होंने भारतीय संस्कृति को विभिन्न संस्कृतियों के संश्लेषण का परिणाम मानते हैं (यंग इंडिया-1-9-1920, पृष्ठ 277)। अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था कि भारतीय सभ्यता विभिन्न आस्थाओं का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्कृतियों का परिणाम है और उस पर उन भौगोलिक और परिवेशगत विशेषताओं का भी प्रभाव है जिन पर संस्कृतियों का मिलन होता है। उन्हीं के शब्दों में अरब, तुर्की, मिस्त्र और भारत में इस्लामी संस्कृति एक सी नहीं है। इन पर उन देशों का प्रभाव है। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति भारतीय है। यह न तो हिंदू संस्कृति है न इस्लामी और न ही और कुछ (यंग इंडिया-30-4-1931, पृष्ठ 88)।

यह अकेले गांधीजी के विचार नहीं थे। डिस्कवरी आफ इंडिया में जवाहर लाल नेहरू ने भी लिखा था कि न लोग न जातियां अपरिवर्तनशील होती हैं। वे निरंतर दूसरे के साथ मिलती रहती हैं और धीरे-धीरे अपने को बदलती रहती हैं। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि वे समाप्त हो रही हों लेकिन नए रूप में या पुराने के ही एक बदले हुए रूप में मनुष्य का उदय हो जाता है (पृष्ठ 47)। इसी पुस्तक में वे यह भी कहते हैं कि निसंदेह यह सोचना मूर्खतापूर्ण है कि भारत या किसी अन्य देश में मनुष्य की एक ही पहचान होती है, मैं ऐसा नहीं सोचता। मैं वर्ग, जाति, धर्म, नस्ल और सांस्कृतिक विकास के विभिन्न स्तरों की दृष्टि से भारतीय जीवन में निहित विविधताओं और विभाजनों के प्रति पूरी तरह सजग हूँ। फिर भी मैं सोचता हूँ कि एक ऐसा देश जिसका लंबा सांस्कृतिक इतिहास है और जीवन के प्रति जहां एक समान दृष्टिकोण है वह अपने लिए अपनी संतानों में एक ऐसी चेतना विकसित कर सकता है चाहे वे संतानें एक दूसरे से कितनी ही अलग-अलग क्यों न हों (पृष्ठ 52)।

ऐसे ही विचार हमें द्विवेदी जी के लेखन में भी मिलते हैं। जब वे लिखते

हैं भारतीय संस्कृति पठार पर जमे हुए अनेक बालुकास्तरों की भांति नाना साधनाओं और संस्कृतियों के योग से बनी है (सभ्यता और संस्कृति निबंध से हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली खंड-नौ, पृष्ठ 197)। उनके लेखन का बड़ा हिस्सा इस एक वाक्य को तरह-तरह से व्याख्यायित और प्रमाणित करने का प्रयास है। लेकिन वे भारतीय संस्कृति को विभिन्न संस्कृतियों के योग से निर्मित मानने तक ही अपने विचारों को सीमित नहीं रखते। इस दृष्टि से वे वास्तव में संकीर्ण राष्ट्रवादी धारणाओं से ऊपर उठकर एक सच्चे अंतरराष्ट्रीयतावादी की तरह अपने विचार प्रस्तुत करते हैं। वे लिखते हैं-मैं संस्कृति को किसी देश विशेष या जाति विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार में सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव संस्कृति हो सकती है (वही, पृष्ठ 199)। इसी संदर्भ में वे भारतीय संस्कृति की बात करते हैं। वे मानते हैं कि इस मानव संस्कृति के निर्माण में भारतीयों का जो योगदान है वही दरअसल भारतीय संस्कृति की विशिष्टता है। उनके शब्दों में मैं जब भारतीय विशेषण जोड़कर संस्कृति शब्द का प्रयोग करता हूँ तो मैं भारत वर्ष द्वारा अधिगत और साक्षात्कृत अवरोधी धर्म की ही बात करता हूँ। अपनी विशिष्ट भौगोलिक परिस्थिति में और विशेष ऐतिहासिक परंपरा के भीतर से मनुष्य के सर्वोत्तम को प्रकाशित करने के लिए इस देश के लोगों ने भी कुछ प्रयत्न किए हैं। जितने अंश में वह संसार के अन्य मनुष्यों के प्रयत्नों का अवरोधी है उतने अंश में वह उनका पूरक भी है। भिन्न-भिन्न देशों में और भिन्न-भिन्न जातियों के अनुभूत और साक्षात्कृत अन्य अवरोधी धर्मों की भांति वह मनुष्य की जय यात्रा में सहायक है। वह मनुष्य के सर्वोत्तम को जितने अंश में प्रकाशित और अग्रसर कर सका है, उतने ही अंश में वह सार्थक और महान है (वही भारतीय संस्कृति है वही, पृष्ठ 201)।

मानव संस्कृति के अवरोधी अंग के रूप में भारतीय संस्कृति को देखने और समझने की यह दृष्टि द्विवेदी जी को रवींद्र नाथ ठाकुर से मिली थी। अमर्त्य सेन के शब्दों में रवींद्र नाथ अपने इस विश्वास के साथ किसी तरह का समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे कि मनुष्य विभिन्न संस्कृतियों को रचनात्मक रूप में अपने में जज्ब कर सकता है। स्वयं रवींद्र के शब्दों में जो कुछ भी मनुष्य द्वारा निर्मित है वह स्वतः ही हमारा हो जाता है चाहे उसका मूल उत्स कहीं का भी हो। मुझे अपनी मानवता पर गर्व है जब मैं दूसरे देशों के कवियों और कलाकारों को अपना मानता हूँ। मनुष्य की समस्त उपलब्धियां मेरी हैं, इस बात को विशुद्ध व प्रसन्नचित भाव से ग्रहण करें (अमर्त्य सेन के आलेख, टैगोर ऐंड हिज इंडिया से उद्धृत, दि आग्रयूमेटेटिव इंडियन, पृष्ठ 118-119)। रवींद्र मुक्ति को सबसे बड़ा मूल्य मानते थे। अमर्त्य सेन के शब्दों में टैगोर के लिए इस बात का सबसे अधिक महत्व था कि मनुष्य मुक्त होकर जी सके और सोच सके। राजनीति और संस्कृति, राष्ट्रीयता और अंतरराष्ट्रीयता, परंपरा और आधुनिकता इन सब को इसी विश्वास के आलोक में देखा जा सकता है। (वही, पृष्ठ 98)। अपने इस मत के पक्ष में वे गीतांजलि का एक अत्यंत लोकप्रिय गीत उद्धृत करते हैं जिसका भावार्थ है-

एक तराना, जो आंदोलन बन गया



अनिल तिवारी

इस साल, 7 नवंबर 2025 को भारत के राष्ट्रीय गीत वंदे मातरम - जिसका आशय है “माँ, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ”- की 150वीं वर्षगांठ है। यह रचना, अमर राष्ट्रगीत के रूप में स्वतंत्रता सेनानियों और राष्ट्र निर्माताओं की अनगिनत पीढ़ियों को प्रेरित करती रही है और यह भारत की राष्ट्रीय पहचान और सामूहिक भावना का चिरस्थायी प्रतीक है। 'वंदे मातरम' पहली बार साहित्यिक पत्रिका बंगदर्शन में 7 नवंबर 1875 को प्रकाशित हुई थी। बाद में, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय ने इसे अपने अमर उपन्यास 'आनंदमठ' में शामिल किया, जो 1882 में प्रकाशित हुई।

रवींद्रनाथ टैगोर ने इसे संगीतबद्ध किया था। यह देश की सभ्यतागत, राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना का अभिन्न अंग बन चुका है। इस महत्वपूर्ण अवसर को मनाना सभी भारतीयों के लिए एकता, बलिदान और भक्ति के उस शाश्वत संदेश को फिर से दोहराने का अवसर है, जो वंदे मातरम में समाहित है।

वंदे मातरम के महत्व को समझने के लिए, इसके ऐतिहासिक मूल को जानना बहुत जरूरी है। यह एक ऐसा मार्ग है, जो साहित्य, राष्ट्रवाद और भारत के स्वाधीनता संग्राम को जोड़ता है। इस स्तुति गान का एक कविता से राष्ट्रीय गीत बनने तक का सफ़र, औपनिवेशिक शासन के खिलाफ भारत की सामूहिक जागृति का उदाहरण है।

यह गीत पहली बार 1875 में प्रकाशित हुआ था। इस तथ्य की पुष्टि श्री अरबिंदो द्वारा 16 अप्रैल 1907 को अंग्रेजी दैनिक 'वंदे मातरम' में लिखे एक लेख से होती है, जिसमें इस बात का उल्लेख है कि बंकिम ने अपने मशहूर गीतकी रचना बत्तीस साल पहले की थी। उन्होंने कहा कि उस समय बहुत कम लोगों ने इसे सुना था, लेकिन लंबे समय के भ्रम से जागृत होने के एक पल में, बंगाल के लोगों ने सच्चाई की तलाश की, और उसी नियत क्षण में किसी ने “वंदे मातरम” गाया। पुस्तक के रूप में प्रकाशित होने से पहले, आनंद मठ बंगाली मासिक पत्रिका 'बंगदर्शन' में धारावाहिक के रूप में छपा था, जिसके संस्थापक संपादक बंकिम थे।

“वंदे मातरम” गीत मार्च-अप्रैल 1881 के अंक में उपन्यास के धारावाहिक प्रकाशन की पहली किस्त में छपा था। 1907 में, मैडम भीकाजी कामा ने पहली बार भारत के बाहर स्टटगार्ट, बर्लिन में तिरंगा

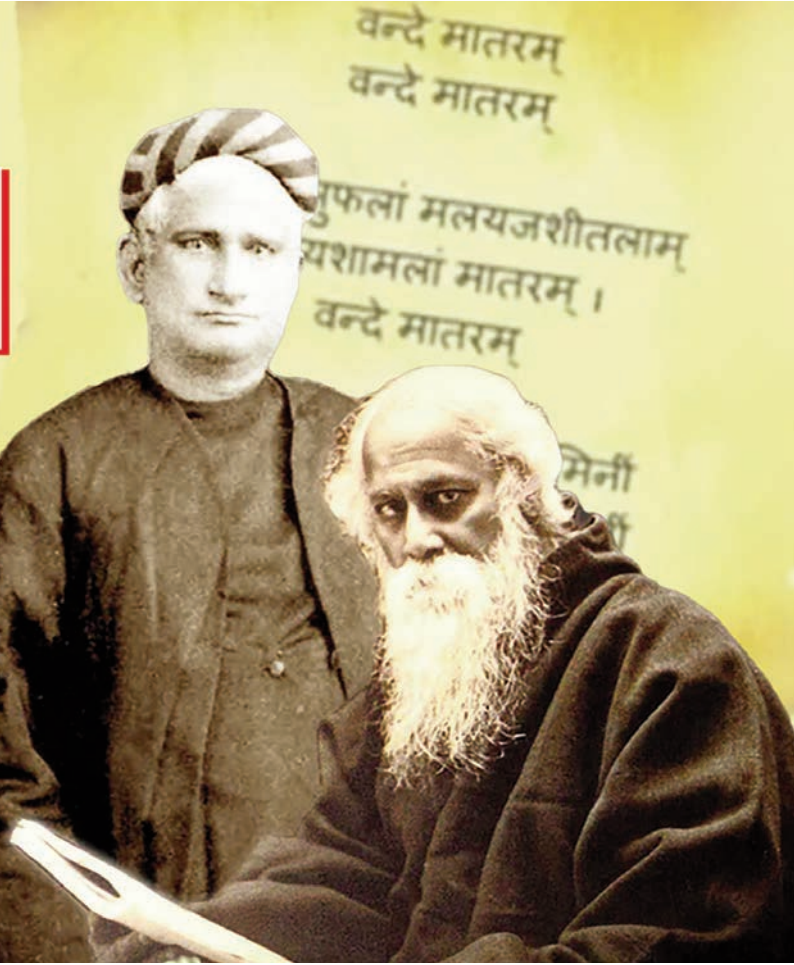


झंडा फहराया था। उस झंडे पर वंदे मातरम लिखा हुआ था।

उपन्यास 'आनंद मठ' का मूल कथानक संन्यासियों के एक समूह के इर्द-गिर्द घूमता है, जिन्हें संतान कहा जाता है, जिसका आशय बच्चे होता है, जो अपनी मातृभूमि के लिए अपनी जिंदगी समर्पित कर देते हैं। वे मातृभूमि को देवी माँ के रूप में पूजते हैं; उनकी भक्ति सिर्फ अपनी जन्मभूमि के लिए है। “वंदे मातरम” आनंद मठ के संतानों द्वारा गाया गया गीत है। यह “राष्ट्रभक्ति के धर्म” का प्रतीक था, जो आनंद मठ का मुख्य विषय था।

अपने मंदिर में, उन्होंने मातृभूमि को दर्शाने वाली माँ की तीन मूर्तियाँ रखीं: माँ जो अपनी भव्य महिमा में महान और गौरवशाली; माँ जो अभी दुखी और धूल में पड़ी है; माँ जो भविष्य में अपनी पुरानी महिमा में पुनः प्रतिष्ठित होगी। श्री अरबिंदो के शब्दों में, “उनकी कल्पना की माँ के 14 करोड़ हाथों में भिक्षा पात्र नहीं, बल्कि तेज धार वाली तलवारें थीं।”

वंदे मातरम के रचयिता बंकिम चंद्र चटर्जी (1838-1894), 19वीं सदी के बंगाल की सबसे जानी-मानी हस्तियों में से एक थे। 19वीं सदी के दौरान बंगाल के बौद्धिक और साहित्यिक इतिहास में उनकी बहुत



महत्वपूर्ण भूमिका है। एक जाने-माने उपन्यासकार, कवि और निबंधकार के तौर पर उनके योगदान ने आधुनिक बंगाली गद्य के विकास और उभरते भारतीय राष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला।

उनके विशेष कार्यों में आनंदमठ (1882), दुर्गेश नंदिनी (1865), कपालकुंडला (1866), और देवी चौधरानी (1884) शामिल हैं, जो अपनी पहचान के लिए संघर्ष कर रहे गुलाम समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक चिंताओं को दिखाते हैं।

वंदे मातरम की रचना को राष्ट्रवादी चिंतन में मील का पत्थर माना जाता है, जो मातृभूमि के प्रति भक्ति और आध्यात्मिक आदर्शवाद के मेल का प्रतीक है। बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय ने अपनी लेखनी के ज़रिए, न केवल बंगाली साहित्य को समृद्ध किया, बल्कि भारत के शुरुआती राष्ट्रवादी आंदोलन के लिए बुनियादी वैचारिक सिद्धांत भी रखे। वंदे मातरम में उन्होंने देश को मातृभूमि को माँ के रूप में देखने का नज़रिया दिया। अक्टूबर 1905 में, उत्तरी कलकत्ता में मातृभूमि को एक मिशन और धार्मिक जुनून के तौर पर बढ़ावा देने के लिए एक 'वंदे मातरम संप्रदाय' की स्थापना की गई थी। इस संप्रदाय के सदस्य हर रविवार

को "वंदे मातरम" गाते हुए प्रभात फेरियाँ निकालते थे और मातृभूमि के समर्थन में लोगों से स्वैच्छिक दान भी लेते थे। इस संप्रदाय की प्रभात फेरियों में कभी-कभी रवींद्रनाथ टैगोर भी शामिल होते थे।

20 मई 1906 को, बारीसाल (जो अब बांग्लादेश में है) में एक अभूतपूर्व वंदे मातरम जुलूस निकाला गया, जिसमें दस हजार से ज्यादा लोगों ने हिस्सा लिया। हिंदू और मुसलमान दोनों ही शहर की मुख्य सड़कों पर वंदे मातरम के झंडे लेकर मार्च कर रहे थे।

अगस्त 1906 में, बिपिन चंद्र पाल के संपादन में 'वंदे मातरम' नाम का एक अंग्रेजी दैनिक शुरू हुआ, जिसमें बाद में श्री अरविंदो संयुक्त संपादक के रूप में शामिल हुए। अपने तेज और प्रभावशाली संपादकीय लेखों के ज़रिए, यह अखबार भारत को जगाने का एक सशक्त माध्यम बन गया, जिसने स्वावलंबन, एकता और राजनीतिक चेतना का संदेश पूरे भारत के लोगों तक फैलाया। निडरता से राष्ट्रवाद का प्रचार करते हुए, युवा भारतीयों को औपनिवेशिक गुलामी से बाहर निकलने के लिए प्रेरित करते हुए, 'वंदे मातरम' दैनिक राष्ट्रवादी चिंतन को ज़ाहिर करने और लोगों की राय जुटाने का एक बड़ा मंच बन गया।

गाने और नारेदोनों के तौर पर वंदे मातरम के बढ़ते प्रभाव से घबराकर ब्रिटिश सरकार ने इसके प्रसार को रोकने के लिए कड़े कदम उठाए। नए बने पूर्वी बंगाल प्रांत की सरकार ने स्कूलों और कॉलेजों में वंदे मातरम गाने या बोलने पर रोक लगाने वाले परिपत्र जारी किए। शैक्षणिक संस्थानों को मान्यता रद्द करने की चेतावनी दी गई, और राजनीतिक आंदोलन में हिस्सा लेने वाले छात्रों को सरकारी नौकरी से निकालने की धमकी दी गई।

नवंबर 1905 में, बंगाल के रंगपुर के एक स्कूल के 200 छात्रों में से हर एक पर 5-5 रुपये का जुर्माना लगाया गया, क्योंकि वे वंदे मातरम गाने के दोषी थे। रंगपुर में, बँटवारे का विरोध करने वाले जाने-माने नेताओं को स्पेशल कांस्टेबल के तौर पर काम करने और वंदे मातरम गाने से रोकने का निर्देश दिया गया। नवंबर 1906 में, धुलिया (महाराष्ट्र) में हुई एक विशाल सभा में वंदे मातरम के नारे लगाए गए। 1908 में, बेलगाम (कर्नाटक) में, जिस दिन लोकमान्य तिलक को बर्मा के मांडले भेजा जा रहा था, वंदे मातरम गाने के खिलाफ एक मौखिक आदेश के बावजूद ऐसा करने के लिए पुलिस ने कई लड़कों को पीटा और कई लोगों को गिरफ्तार किया। "वंदे मातरम" गीत भारत के स्वाधीनता संग्राम का प्रतीक बन गया, जो स्व-शासन की सामूहिक इच्छा तथा लोगों और उनकी मातृभूमि के बीच भावनात्मक जुड़ाव को समाहित करता है। यह गीत शुरू में स्वदेशी और विभाजन विरोधी आंदोलनों के दौरान लोकप्रिय हुआ और जल्द ही क्षेत्रीय सीमाओं को पार करके राष्ट्रीय जागरण का गान बन गया। बंगाल की सड़कों से लेकर बॉम्बे के दिल और पंजाब के मैदानों तक, "वंदे मातरम" की गूँज औपनिवेशिक शासन के खिलाफ प्रतिरोध के प्रतीक के रूप में सुनाई देने लगी। इसे गाने पर रोक लगाने की ब्रिटिश कोशिशों ने इसके देशभक्ति से जुड़े महत्व को और बढ़ा दिया, और इसे एक ऐसी नैतिक शक्ति में बदल दिया जिसने जाति, धर्म और भाषा की परवाह किए



बिना लोगों को एकजुट किया। नेताओं, छात्रों और क्रांतिकारियों ने इसके छंदों से प्रेरणा ली, और इसे राजनीतिक सभाओं, प्रदर्शनों और जेल जाने से पहले गाया जाने लगा। इस रचना ने न केवल विरोध के कामों को प्रेरित किया, बल्कि आंदोलन में सांस्कृतिक गौरव और आध्यात्मिक जोश भी भरा, जिससे भारत के स्वाधीनता संग्राम की राह के लिए भावनात्मक आधार तैयार हुआ।

उन्नीसवीं सदी के आखिर और बीसवीं सदी की शुरुआत में “वंदे मातरम” बढ़ते भारतीय राष्ट्रवाद का नारा बन गया। 1896 में कांग्रेस के अधिवेशन में रवींद्रनाथ टैगोर ने वंदे मातरम गाया था। 1905 के उथल-पुथल वाले दिनों में, बंगाल में विभाजन विरोधी और स्वदेशी आंदोलन के दौरान, वंदे मातरम गीत और नारे की अपील भी बहुत शक्तिशाली हो गई थी। उसी साल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वाराणसी अधिवेशन में, 'वंदे मातरम' गीत को पूरे भारत के अवसरों के लिए अपनाया गया।

अप्रैल 1906 में, नए बने पूर्वी बंगाल प्रांत के बारीसाल में बंगाल प्रांतीय सम्मेलन के दौरान, ब्रिटिश हुकूमरानों ने वंदे मातरम के सार्वजनिक नारे लगाने पर रोक लगा दी और आखिरकार सम्मेलन पर ही रोक लगा दी। आदेश की अवहेलना करते हुए, प्रतिनिधियों ने नारा लगाना जारी रखा और उन्हें पुलिस के भारी दमन का सामना करना पड़ा।

मई 1907 में, लाहौर में, युवा प्रदर्शनकारियों के एक समूह ने औपनिवेशिक आदेशों की अवहेलना करते हुए जुलूस निकाला और रावलपिंडी में स्वदेशी नेताओं की गिरफ्तारी की निंदा करने के लिए वंदे मातरम का नारा लगाया। इस प्रदर्शन को पुलिस के क्रूर दमन का सामना करना पड़ा,

फिर भी युवाओं द्वारा निडरता से नारे लगाना देश भर में फैल रही प्रतिरोध की बढ़ती भावना को दर्शाता है।

27 फरवरी 1908 को, तूतीकोरिन (तमिलनाडु) में कोरल मिल्स के लगभग हजार मजदूर स्वदेशी स्टीम नेविगेशन कंपनी के साथ एकजुटता दिखाते हुए और अधिकारियों की दमनकारी कार्रवाइयों के खिलाफ हड़ताल पर चले गए। वे देर रात तक सड़कों पर मार्च करते रहे, विरोध और देशभक्ति के प्रतीक के तौर पर वंदे मातरम के नारे लगाते रहे।

जून 1908 में, लोकमान्य तिलक के मुकदमे की सुनवाई के दौरान हजारों लोग बॉम्बे पुलिस कोर्ट के बाहर जमा हुए और वंदे मातरम का गान करते हुए एकजुटता प्रदर्शित की। बाद में, 21 जून 1914 को, तिलक के रिहा होने पर पुणे में उनका जोरदार स्वागत हुआ, और उनके स्थान ग्रहन करने के काफी देर बाद तक भीड़ वंदे मातरम के नारे लगाती रही।

1907 में, मैडम भीकाजी कामा ने स्टटगार्ट, बर्लिन में पहली बार भारत के बाहर तिरंगा झंडा फहराया। झंडे पर 'वंदे मातरम' लिखा हुआ था। 17 अगस्त 1909 को, जब मदन लाल ढींगरा को इंग्लैंड में फांसी दी गई, तो फांसी पर चढ़ने से पहले उनके आखिरी शब्द थे “वंदे मातरम।” 1909 में, पेरिस में भारतीय देशभक्तों ने जिनेवा से 'वंदे मातरम' नामक एक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। अक्टूबर 1912 में, जब गोपाल कृष्ण गोखले केप टाउन, दक्षिण अफ्रीका पहुंचे, तो उनका स्वागत 'वंदे मातरम' के नारे लगाते लोगों के एक बड़े जुलूस के साथ किया गया।

संविधान सभा में जन गण मन और वंदे मातरम दोनों को राष्ट्रीय प्रतीकों के रूप में अपनाने पर पूर्ण सहमति थी और इस मुद्दे पर कोई बहस

नहीं हुई। 24 जनवरी 1950 को, डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने संविधान सभा को संबोधित करते हुए कहा कि स्वतंत्रता आंदोलन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका के कारण, वंदे मातरम को राष्ट्रगान जन गण मन के समान दर्जा दिया जाना चाहिए और समान रूप से सम्मानित किया जाना चाहिए। उन्होंने कहा, “एकमामला है जिसपर चर्चा होनी बाकी है, वह है राष्ट्र गान का सवाल। एक समय सोचा गया था कि यह मामला सदन के सामने लाया जाए और सदन एक प्रस्ताव पास करके इस पर फैसला ले। लेकिन ऐसा महसूस हुआ कि प्रस्ताव के ज़रिए औपचारिक फैसला लेने के बजाय, बेहतर होगा कि मैं राष्ट्र गान के बारे में एक बयान दूँ। इसलिए मैं यह बयान दे रहा हूँ। जन गण मन नाम के शब्दों और संगीत से बनी रचना भारत का राष्ट्रगान है, जिसमें सरकार ज़रूरत पड़ने पर शब्दों में बदलाव कर सकती है; और वंदे मातरम गीत, जिसने भारत के स्वाधीनता संग्राम में ऐतिहासिक भूमिका निभाई है, उसे जन गण मन के बराबर सम्मान दिया जाएगा और उसका दर्जा भी उसके बराबर होगा। (तालियाँ)। मुझे आशा है कि इससे सदस्य संतुष्ट होंगे।”

उनके बयान को अपनाया गया और रवींद्रनाथ टैगोर के जन-गण-मन को स्वतंत्र भारत का राष्ट्रगान और बंकिम के वंदे मातरम को जन-गण-मन के बराबर दर्जा देते हुए राष्ट्रीय गीत के रूप में अपनाया गया।

जब देश वंदे मातरम के 150 साल पूरे होने का जश्न मना रहा है, तो इस गीत की एकता, विरोध और राष्ट्रीय गौरव की स्थायी विरासत का सम्मान करने की कोशिश में पूरे भारत में यादगार गतिविधियाँ आयोजित की जा रही हैं। संस्थान, सांस्कृतिक संगठन और शैक्षणिक केंद्र गाने के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व को फिर से याद करने के लिए सेमिनार, प्रदर्शनीयाँ, संगीत प्रस्तुतियाँ और सार्वजनिक पाठ आयोजित कर रहे हैं।

भारत सरकार इसे चार चरणों में मनाएगी

- इस स्मरणोत्सव का दिल्ली (इंदिरा गांधी स्टेडियम) में राष्ट्रीय स्तर का उद्घाटन कार्यक्रम होगा।
- 7 नवंबर को देश भर में तहसील स्तर तक वीआईपी कार्यक्रम होंगे जिनमें बड़ी संख्या में लोग शामिल होंगे।
- राष्ट्रीय कार्यक्रम में एक स्मारक डाक टिकट और सिक्का जारी किया जाएगा।
- वंदे मातरम के इतिहास पर एक प्रदर्शनी लगाई जाएगी और एक लघु फिल्म दिखाई जाएगी।
- हर सरकारी कार्यक्रम में डाक टिकट और सिक्का जारी होने की फिल्में दिखाई जाएंगी।
- अभियान की वेबसाइट पर कार्यक्रमों की तस्वीरें और वीडियो अपलोड किए जाएंगे।
- राष्ट्रीय स्तर पर, कार्यक्रम में देश भर के जाने-माने गायक वंदे मातरम के अलग-अलग रूप पेश करेंगे।

साल भर चलने वाली गतिविधियाँ

- आकाशवाणी और दूरदर्शन पर विशेष कार्यक्रम और एफएम रेडियो अभियान चलाया जाएगा।
- पीआईबीटियर 2 और 3 शहरों में वंदे मातरम पर पैनल चर्चा और संवाद आयोजित करेगा।
- दुनिया भर में सभी भारतीय मिशनों और कार्यालयों में वंदे मातरम की भावना को समर्पित एक सांस्कृतिक संध्या का आयोजन किया जाएगा।
- वंदे मातरम की भावना को समर्पित एक वैश्विक संगीत समारोह आयोजित किया जाएगा।
- वंदे मातरम: धरती माँ को सलाम - पेड़ लगाने के अभियान आयोजित किए जाएंगे।
- राजमार्गों पर देशभक्ति से जुड़े चित्र बनाए और प्रदर्शित किए जाएंगे।
- ऑडियो संदेश और विशेष उद्घोषणाएँ की जाएंगी। रेलवे स्टेशनों और हवाई अड्डों पर एलईडी डिस्प्ले पर वंदे मातरम के बारे में जानकारी दिखाई जाएगी।

विशेष गतिविधियाँ

- वंदे मातरम के अलग-अलग पहलुओं, बंकिम चंद्र चटर्जी की जीवन गाथा, स्वतंत्रता संग्राम में वंदे मातरम की भूमिका और भारत के इतिहास पर 1-1 मिनट की 25 फिल्में बनाई जाएंगी, और सोशल मीडिया के ज़रिए लोगों तक पहुँचायी जाएंगी।
- देशभक्ति की भावना को सही दिशा देने के लिए, वंदे मातरम अभियान और हर घर तिरंगा अभियान एक साथ मनाए जाएंगे।
- ये पहल न सिर्फ बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय की कालजयी रचना को श्रद्धांजलि देती हैं, बल्कि स्वतंत्रता संग्राम के दौरान पीढ़ियों को प्रेरित करने में इसकी भूमिका को भी दिखाती हैं। इन समारोहों के ज़रिए, वंदे मातरम की भावना को आज के भारत के संदर्भ में नए सिरे से समझाया जा रहा है - जो देश के गौरवशाली अतीत को उसके एकजुट, आत्मनिर्भर और सांस्कृतिक रूप से समृद्ध भविष्य की आकांक्षाओं से जोड़ती है।

निष्कर्ष

वंदे मातरम के 150 साल पूरे होने का यह जश्न भारत की राष्ट्रीय पहचान के विकास में इस गीत के गहरे ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व को दिखाता है। उन्नीसवीं सदी के आखिर के बौद्धिक और साहित्यिक माहौल से निकला वंदे मातरम अपनी साहित्यिक जड़ों से आगे बढ़कर उपनिवेशवाद विरोधी प्रतिरोध और सामूहिक आकांक्षा का शक्तिशाली प्रतीक बन गया। यह आयोजन न केवल बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय के विज्ञान की स्थायी प्रासंगिकता की पुष्टि करता है, बल्कि आधुनिक भारत में राष्ट्रवाद, एकता और सांस्कृतिक आत्म-जागरूकता के विमर्श को आकार देने में इस गीत की भूमिका के बारे में नए सिरे से सोचने के लिए भी प्रेरित करता है।



जोहरान ममदानी की जीत: सामाजिक धारणाओं से मुकाबला

मैं एक मुसलमान हूँ। मैं डेमोक्रेटिक सोशलिस्ट (लोकतान्त्रिक समाजवादी) हूँ। और सबसे बुरी बात यह है कि मैं इनमें से किसी के लिए भी शर्मिदा नहीं हूँ।” (चुनाव जीतने के बाद जोहरान ममदानी के भाषण से)



डॉ. दिनेश प्रसाद मिश्र

जोहरान ममदानी का अमरीका के प्रमुख शहरों में से एक और सही मायनों में ‘ग्लोबल सिटी’ न्यूयार्क का मेयर चुना जाना कई अर्थों में बहुत अहम है। यह आम लोगों के सरोकारों की धनिकों के सरोकारों पर जीत है। यह एक तेजतर्रार और वैचारिक दृष्टि से दृढ़ युवा की वर्चस्वशाली निहित स्वार्थों पर जीत है।

यह जीत बताती है कि अब भी हम यह उम्मीद कर सकते हैं कि मानवीय मूल्य, संकीर्ण स्वार्थों पर भारी पड़ सकते हैं। यह उन ताकतों की जीत है जो एक ऐसी दुनिया बनाना चाहते हैं जिसमें सब बराबर हों।

इस जीत का हम कई कोणों से विश्लेषण कर सकते हैं। जब ममदानी ने अपना चुनाव अभियान शुरू किया था तब वे दौड़ में ही नहीं नज़र आ रहे थे। मगर अंततः उन्होंने शानदार जीत हासिल की।

एक प्रश्न जिस पर विचार किए जाने की ज़रूरत है वह यह है कि उन्हें जीत के तुरंत बाद अपने भाषण में यह क्यों कहना पड़ा कि वे मुसलमान और डेमोक्रेटिक सोशलिस्ट हैं। इन दोनों पहचानों का पिछले कुछ दशकों में ज़बरदस्त दानवीकरण हुआ है। समाजवाद को साम्यवाद का चचेरा भाई बताया जा रहा है। साम्यवाद का फोकस आम लोगों के कल्याण पर होता है और इस विचारधारा को दक्षिणपंथी – विशेषकर अमरीका में – नीची निगाहों से देखते हैं। साम्यवाद को एक डरावना दानव बताने की प्रवृत्ति शीतयुद्ध के दौरान अपने चरम पर थी। यह वह काल भी था जब बहुत से

जेएनयू हुआ लाल, सलाम साथियों!

केंद्रीय सरकार, शिक्षा मंत्रालय, विश्वविद्यालय प्रशासन के असामान्य हस्तक्षेप और पिछले वर्षों में नियुक्तियों में आरएसएस से संबंधित लोगों की छंट छंट कर भर्ती, शोध छात्रों की संख्या में बड़ी कटौती और दिल्ली पुलिस की मदद से मौजूदा सत्ता से असहमत छात्र संगठनों और सामान्य छात्रों के विरुद्ध आतंक पैदा करने वाली हिंसक घटनाओं के बावजूद जेएनयू में एक बार फिर लाल परचम फहराया है

इसकी एक वजह यह भी है कि जेएनयूएसयू के चुनावों का संचालन छात्रों की ही एक चुनी हुई सर्वसम्मत इकाई करवाती है! यदि यह कार्य ज्ञानेश कुमार गुप्ता जी के हाथ में होता तो नतीजे निश्चित ही कुछ और होते!

जीते हुए उम्मीदवार इस प्रकार हैं। प्रेसिडेंट : अदिति मिश्रा (लेफ्ट यूनिटी) उपाध्यक्ष : के. गोपिका (लेफ्ट यूनिटी) महासचिव : सुनील यादव (लेफ्ट यूनिटी) और संयुक्त सचिव : दानिश अली (लेफ्ट यूनिटी)। भाजपा की छात्र इकाई एबीवीपी का सूपड़ा साफ होना इस बात का द्योतक है कि युवा भाजपा और संघ को भली-भांति समझ गए हैं। वे किसी दबाव और उत्पीड़न से नहीं डरे। शाबाश जेएनयू। इस शानदार जीत ने लाल परचम फहराकर वातावरण लाल कर दिया है जो क्रांति का उद्घोष है।

विदित हो, 1971 में जेएनयूएसयू चुनाव के बाद से, विश्वविद्यालय वामपंथी राजनीति का केंद्र रहा है। छात्र संघ अध्यक्ष पद पर अब तक एसएफआई ने 22 बार और एआईएसआई ने 12 बार जीत हासिल की है, जो वामपंथी विरासत को बताती है। एबीवीपी को केवल एक बार, साल 2000 में, संदीप महापात्रा ने महज एक वोट से जीत दिलाई थी। एनएसयूआई के तनवीर अख्तर ने 1991 में जीत दर्ज की थी।

कोविड-19 के कारण चार साल के बाद, 2023 में वाम एकता ने फिर से सभी चार पद जीतकर अपनी पकड़ मजबूत की थी। इस बार, लेफ्ट यूनिटी ने अपने इतिहास को दोहराया है।

नई चुनी गई यूनियन कई जरूरी स्टूडेंट समस्याओं को हल करने

में बहुत अहम होती है जैसे लाइब्रेरी और हॉस्टल की सुविधाओं को बेहतर बनाना। एकेडमिक सिस्टम में बदलाव करना, रिसर्च के लिए ज्यादा पैसा पाना और कैंपस को सभी के लिए ज्यादा वेलकमिंग बनाना, नेशनल एजुकेशन पॉलिसी, कैंपस की आजादी और स्टूडेंट वेलफेयर पर चर्चाएं नई यूनियन की टु डू लिस्ट में सबसे ऊपर रहने की उम्मीद की जा सकती है।

यूनियनर्सिटी ने इलेक्शन कमेटी की तारीफ की है कि उन्होंने यह पक्का किया कि चुनाव प्रक्रिया निष्पक्ष और खुली हो। इस बीच, जीतने वाले उम्मीदवारों के समर्थक पूरे कैंपस में हॉस्टल और मैदानों में नारे लगाकर और बैनर लहराकर खूब जश्न मना रहे हैं। और अब जब जेएनयूएसयू 2025 के नतीजे आ गए हैं, तो कैंपस में राजनीतिक बातचीत एक नए दौर में पहुँच गई है। यह भारत के सबसे ज्यादा राजनीतिक रूप से जागरूक विश्व विद्यालयों में से एक है जिसमें सक्रिय स्टूडेंट भागीदारी और जोरदार बहसों के एक और साल के लिए मंच तैयार करता है।

जेएनयू के इन चुनावों से देश में हो रहे चुनाव को सबक सीखने की जरूरत है। यहां चुनाव आयोग जैसा छल छंद नहीं है। सभी यूनियनों के लोग विद्यार्थियों के बीच अपनी बात रखते हैं। विद्यार्थी ही चुनाव सम्पन्न कराते हैं और फिर सब मिलकर जय पराजय को भूलकर खुशनुमा माहौल में जश्न मनाते हैं तथा चयनित फेडरेशन को सहयोग करते हैं

सबसे बड़ी बात है जेएनयू की इस महान परम्परा को खत्म करने की भारत सरकार हज़ारहा कोशिश करने के बाद जेएनयू की रौनक बरकरार है। उम्मीद है यह निरंतरता और जागरूकता कायम रहेगी जिसने देश को महान नेता सीताराम येचुरी और कन्हैया कुमार तथा अनेक विद्वान दिए हैं। विश्व विद्यालय अपनी गरिमा बनाए रखेगा। ऐसा भरोसा है जिसका सम्मान दुनियाभर के लोग करते हैं। जेएनयू को लाल सलाम।

देश साम्राज्यवाद की गुलामी से मुक्त हो रहे थे और स्वतंत्र देश के रूप में दुनिया के नक्शे पर उभर रहे थे।

रूस (उस समय सोवियत संघ) एक वैश्विक महाशक्ति के रूप में उभर रहा था। अमरीका पहले से ही एक बड़ी ताकत था। वह एक तरह से पुराने औपनिवेशिक राष्ट्रों का उत्तराधिकारी था। अमरीका चाहता था कि नव-स्वतंत्र देशों पर उसका दबदबा हो। सोवियत संघ इन राष्ट्रों की उनकी जड़ें जमाने में मदद कर रहा था।

इस सिलसिले में भारत और पाकिस्तान का उदाहरण दिया जा सकता

है। जहाँ सोवियत संघ ने भारत को भारी उद्योग और आधारभूत संरचना स्थापित करने में मदद की पेशकश की वहीं अमरीका भारत को अपने यहाँ तैयार माल बेचने को आतुर था। भारत ने आधारभूत उद्योग स्थापित करने की राह चुनी जबकि पाकिस्तान, अमरीका से तैयार माल खरीदने लगा। आज भारत और पाकिस्तान की स्थिति में जो अंतर है उससे साफ है कि भारत ने सही राह चुनी थी।

इसके साथ ही अमरीका के प्रचार तंत्र ने साम्यवाद के खिलाफ अभियान छेड़ दिया। उसने कम्युनिस्ट देशों के खिलाफ सैन्य और खुफिया

कार्यवाहियां भी शुरू कर दीं। वियतनाम के खिलाफ युद्ध अमरीका के साम्यवाद-विरोधी कुत्सित अभियान का एक भयावह उदाहरण था।

पूरी दुनिया में साम्यवाद को बदनाम किया गया। अमरीकी मीडिया ने भी इस अभियान में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। यह नोम चोमस्की ने अपनी थीसिस “सहमति के निर्माण” में अच्छी तरह से दर्शाया कि कैसे अमरीकी सरकार की नीतियों के अनुरूप मीडिया साम्यवाद को एक शैतानी ताकत बताना शुरू कर देता है।

मैकार्थीवाद – जो अमरीकी प्रशासन से साम्यवादियों को बाहर करने का अभियान था – की जड़ें भी साम्यवाद के प्रति शत्रुता के भाव में थीं। सीनेटर जोसफ मैकार्थी ने प्रशासन और अन्य क्षेत्रों से साम्यवादियों को बाहर करने के लिए जांच-पड़ताल का एक बड़ा अभियान चलाया। इसके दौरान लोगों के संवैधानिक अधिकारों को कुचला गया।

भारत के दक्षिणपंथियों की भी यही सोच थी और उन्होंने वियतनाम जैसे देशों के खिलाफ अमरीका की नीतियों का समर्थन किया। यह तो अच्छा हुआ कि अमरीकी सेनाओं को वियतनाम में मुंह की खानी पड़ी। आरए-एस-भारतीय जनसंघ भी साम्यवाद के विरुद्ध अमरीकी अभियान के समर्थक थे।

राहुल सागर लिखते हैं कि हिन्दू महासभा और जनसंघ जैसी हिन्दू राष्ट्रवादी पार्टियों ने शीत युद्ध के दौरान अमरीका के नेतृत्व में चले साम्यवाद-विरोधी अभियान का इसलिए समर्थन किया क्योंकि “वे साम्यवाद के प्रति वैमनस्यता का भाव” रखते थे। वे लिखते हैं कि ये दल और संगठन वैचारिक कारणों से पश्चिमी देशों से मित्रता के हामी थे। मगर वे पश्चिम के भौतिकवाद और अमरीका की भारत को नियंत्रण में रखने की कोशिशों से डरते भी थे।

भाजपा का पूर्व अवतार जनसंघ, भारत की गुटनिरपेक्ष नीतियों के खिलाफ था और चाहता था कि भारत पश्चिम के पक्ष में झुक जाए। आरए-एस के एमएस गोलवलकर ने अपनी पुस्तक ‘बंच ऑफ़ थॉट्स’ में हिन्दू राष्ट्र के तीन दुश्मन चिन्हित किए हैं: मुसलमान, ईसाई और साम्यवादी। इस सबने साम्यवाद और समाजवाद के खिलाफ वातावरण बना दिया।

इस्लाम और मुसलमानों के प्रति फोबिया (अतार्किक नफरत और भय), 9/11 के बाद शुरू हुआ। जोहरान के पिता प्रोफेसर महमूद ममदानी ने एक शानदार किताब लिखी है। उसका शीर्षक है “गुड मुस्लिम, बैड मुस्लिम”। इस पुस्तक में यह बताया गया है कि अल कायदा और उसके जैसे अन्य संगठनों के उदय की जड़ में थी अमरीका की दुनिया के तेल के संसाधनों पर कब्जा करने की नीति।

अमरीका ने इन आतंकी समूहों को आठ हजार मिलियन डॉलर और सात हजार टन असलाह उपलब्ध करवाए थे। अमरीकी मीडिया ने जिस तरह इस्लाम को आतंकवाद से जोड़ा, वह मानवता के खिलाफ अपराध से कम न था।

आतंकवाद को एक मजहब से जोड़ना भयावह और दुखद था। इसने सभी मुसलमानों को आतंकवादी करार दे दिया। भारत में पहले से ही

अंग्रेजों की फूट डालो और राज करो की नीति के चलते मुसलमानों के प्रति पूर्वाग्रह व्याप्त थे। अंग्रेजों ने इतिहास को धर्म के चश्मे से देखा और उसी आधार पर इतिहास लिखा। शासक केवल सत्ता और धन चाहते हैं। मगर अंग्रेजों ने हमें यह बताया कि शासकों का धर्म उनकी नीतियों का निर्धारक था। इस तरह के इतिहास लेखन का नतीजा यह हुआ कि मुसलमान शासक दानव बन गए और आज के मुसलमानों को उनके किए-धरे के लिए ज़िम्मेदार बता दिया गया। नतीजा था सांप्रदायिक हिंसा। इसके अलावा, मुसलमान अपने मोहल्लों में सिमटने लगे और उन्हें समाज के हाशिये पर धकेल दिया गया।

जोहरान ममदानी की जीत से जाहिर है कि साम्यवादियों और समाजवादियों और मुसलमानों का दानवीकरण, दुनिया के लिए अभिशाप है। अमरीका ने इसमें प्रमुख भूमिका अदा की है। अलग-अलग देशों की स्थानीय परिस्थितियों के चलते भी इसमें इजाफा हुआ है। ये दोनों समाज की सामूहिक समझ का हिस्सा बन गए हैं। भारत में भी समाजवाद और इस्लाम निशाने पर हैं।

अमरीका में ममदानी को कम्युनिस्ट और जिहादी बताया जा रहा है और यह कहा जा रहा है कि उनके कारण 9/11 दोहराया जायेगा। यह एक जहर है जिसे वे निहित स्वार्थी तत्व फैला रहे हैं जिनके सरोकार केवल अपनी संपत्ति और अपने ऐशोआराम तक सीमित हैं।

ममदानी ऐसी नीतियां अपनाने के पक्ष में हैं जिनसे समाज के सभी तबके लाभान्वित होंगे। उनके विरोधी न्यूयॉर्क के अरबपतियों से कह रहे हैं कि वे अमरीका के दूसरे हिस्सों में बस जाएँ। ममदानी का स्पष्ट मत है कि समाजवाद और समाज कल्याण का धर्म से कोई लेनादेना नहीं है और राज्य को ऐसी नीतियां बनाना चाहिए जिनसे समाज के सभी वंचित वर्ग लाभान्वित हों, फिर चाहे उनका धर्म कोई भी हो।

ममदानी की जीत ट्रंपवाद के खिलाफ जनादेश

अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रंप के लाख विरोध के बावजूद ममदानी ने न्यूयॉर्क के मेयर पद पर चुनाव जीत लिया है। इस जीत का श्रेय उनकी लोक कल्याणकारी योजनाओं को दिया जा रहा है।

जोहरान ममदानी ने चुनाव जीतने पर बसों में यात्रा मुफ्त करने का वादा किया था। उन्होंने न्यूयॉर्क में अगले चार साल तक घरों का किराया न बढ़ाने का नियम लागू करने का वादा किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि वे सरकारी पैसों से दो लाख मकान बनाकर गरीबों को देंगे और लोगों को सस्ता राशन उपलब्ध कराने के लिए सस्ती राशन की दुकानें खोलेंगे। ममदानी का ये दांव मध्य वर्ग के लोगों और आप्रवासियों पर सबसे कारगर साबित हुआ और उन्होंने चुनाव जीत लिया।

उन्हें चुने जाने में सबसे बड़ी भूमिका अमेरिका के अश्वेत (55 प्रतिशत) और एशियन (51 प्रतिशत) लोगों ने निभाई है। ममदानी का जादू सबसे ज्यादा जेन जी के बीच चला है जिसमें 15 से 29 वर्ष के बीच के 78 प्रतिशत युवाओं ने उन्हें वोट दिया। ममदानी को यह समर्थन राष्ट्रपति ट्रंप की नीतियों के खिलाफ जनादेश माना जा रहा है। बहरहाल

अब ममदानी के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह मानी जा रही है कि सीमित बजट में वे अपने वायदों को कैसे पूरा करेंगे।।

यह केंद्र से मिलने वाली सहायता के बिना संभव नहीं होगा। उधर ट्रंप ने धमकी दिया है कि ममदानी के जीत जाने पर वे न्यूयॉर्क का बजट रोक देंगे। ममदानी अप्रवासी लोगों के लिए एक नई उम्मीद बनकर उभरे हैं। अप्रवासियों को लग रहा है कि ममदानी के चुने जाने से उनके अमेरिका से बाहर होने का खतरा टल गया है। वह पहले मुस्लिम और एशियन हैं, जो न्यूयॉर्क के मेयर चुने गए हैं। जोहरान ममदानी भारतीय मूल के हैं। उनकी मां मीरा नायर प्रसिद्ध फिल्मकार हैं तो पिता महमूद ममदानी है जो विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं।

भारतीय मूल के व्यक्ति का न्यूयॉर्क का मेयर बनना भारतीयों के लिए गर्व की बात होनी चाहिए है लेकिन यह शर्मनाक और अफसोसनाक है कि फासीवादी ताकतें इस घटना को भी सांप्रदायिक नजरिए से देख रही हैं।

कथित संत यति नरसिंहानंद का बयान सामने आया है। उनका एक वीडियो सोशल मीडिया पर वायरल हो रहा है। उसमें वह कह रहे हैं, लंदन के बाद एक मुसलमान न्यूयॉर्क का मेयर बना है। इसकी मां हिंदू है और इसकी पत्नी भी हिंदू है। आगे यति कहते हैं, ये महा विनाश की बेला है। इसके बाद यति मुसलमानों पर काफी विवादित टिप्पणी भी कर रहे हैं। यति नरसिंहानंद वीडियो में जोहरान ममदानी की मां के साथ पत्नी को भी हिंदू कहते हुए नजर आ रहे हैं, आपको बता दें कि जोहरान ममदानी की मां तो हिंदू हैं, मगर उनकी पत्नी सिरियन मूल की हैं।

वैसे भी पहले ही अमेरिकी कांग्रेस से बजट पास न कराने के कारण पूरे देश में शटडाउन लागू करने के लिए मजबूर हुए ट्रंप के पास अतिरिक्त बजट की संभावना बहुत कम ही है।

अपने वादों को पूरा करने के लिए ममदानी के पास अमीरों पर कर बढ़ाने का एक विकल्प है। अमेरिका में भी केंद्र सरकार ही कर एकत्र करती है। शहरी व्यवस्था को चलाने के लिए टैक्स बढ़ाने के उनके विकल्प पूरी तरह खत्म तो नहीं हैं, लेकिन उनके विकल्प सीमित अवश्य हैं। लेकिन इससे वे कितना फंड एकत्र कर पाएंगे, यह कहना मुश्किल है।

34 वर्षीय ममदानी तेज तर्रार लोकतांत्रिक समाजवादी हैं। न्यूयॉर्क के इतिहास में वे दूसरे सबसे कम उम्र के मेयर हैं। ममदानी की जीत दरअसल ट्रंप की विभाजनकारी राजनीति और उनकी अमीरपरस्त अर्थनीति की भारी पराजय है।

गौरतलब है कि यह वही न्यूयॉर्क शहर है जहां 11 सितंबर 2001 को आतंकवादियों ने दो टावरों को जमीदोज कर दिया था। जिसमें 3000 के

करीब अमेरिकी मारे गए थे। दरअसल उसी घटना के बाद इस्तामोफोबिया का जहर पूरी दुनिया में फैलाया गया। भारत पर भी इस विभाजनकारी राजनीति का गहरा असर पड़ा।

इस सब के बावजूद ममदानी को जिताकर जनता ने अपनी बहु सांस्कृतिक एकता के प्रति पुनः अपने अडिग विश्वास का इजहार किया है। देश के सबसे बड़े शहर में जो एक तरह से अमेरिका की विविधता का ही एक छोटा रूप है वहां अमेरिकी जनता ने ममदानी को जिताकर एक तरह से ट्रंप की अलगाव मूलक राजनीति को खारिज करने का संदेश दिया है।

समाज और राजनीति पर ट्रंप की पकड़ कितनी कमजोर है ममदानी की जीत ने इसका भी संकेत दे दिया है। फिलिस्तीन के उनके समर्थन के कारण ट्रंप ने उन्हें स्वघोषित यहूदियों से नफरत करने वाला करार दिया। और कहा कि जो यहूदी उन्हें वोट देगा वह मूर्ख है।

दरअसल ट्रंप का उभार ही धार्मिक और नस्लवादी भावनाओं के उभार से हुआ था। उनके कहने का अर्थ यह था कि ममदानी की मुस्लिम पैतृकता उन्हें संदिग्ध बना देती है। उन्होंने आरोप लगाया कि ममदानी की रैडिकल वामपंथी राजनीति न्यूयॉर्क को बर्बाद कर देगी।

ममदानी ने ट्रंप के आरोपों का जबरदस्त जवाब देते हुए अपने हर भाषण में कहा कि मेरी माँ हिंदू हैं, पिता मुस्लिम हैं और मैं अमेरिकी हूँ जिससे ट्रंप डरते हैं।

ममदानी की जीत से स्वाभाविक रूप से इजरायल में तीखी प्रतिक्रिया हुई है क्योंकि ममदानी खुले आम फिलिस्तीन के समर्थन की घोषणा करते हुए चुनाव लड़ रहे थे। जाहिर है दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी यहूदी आबादी वाले शहर में एक इजराइल विरोधी के जीतने से इजराइल सकते में है। मजेदार यह है कि एक तिहाई यहूदियों ने भी ममदानी को वोट दिया है।

एक विश्लेषक ने आश्चर्य व्यक्त किया है कि जहां यहूदी ताकत का, यहूदी यादों का, यहूदी संस्कृति का और यहूदी राजनीतिक प्रभाव का जबरदस्त संकेद्रण है वहां एक आदमी स्पष्ट इजरायल विरोधी प्लैक पर चुनाव कैसे जीत सकता है!

ममदानी ने खुलकर गाजा में इसराइली जनसंहार को अपने चुनाव का एक प्रमुख मुद्दा बनाया और चेतावनी दी कि मानवाधिकार के उल्लंघन के लिए वे नेतन्याहू को गिरफ्तार करवा सकते हैं अगर वे न्यूयॉर्क शहर में कदम रखते हैं।

जाहिर है ममदानी के सामने अपने वायदों को पूरा करने के रास्ते में गम्भीर चुनौतियां हैं। यह भविष्य बताएगा कि वे अपने वायदों को पूरा करने के लिए लड़ते हुए अमेरिका का राष्ट्रपति बनने की ओर कदम बढ़ाते हैं अथवा मेयर के रूप में विफल होकर गुमनामी में खो जाते हैं!

(लेखक इलाहाबाद विश्वविद्यालय छात्रसंघ के पूर्व अध्यक्ष हैं।)

**ममदानी की जीत से
स्वाभाविक रूप से इजरायल
में तीखी प्रतिक्रिया हुई है
व्योकि ममदानी खुले आम
फिलिस्तीन के समर्थन की
घोषणा करते हुए चुनाव लड़
रहे थे। जाहिर है दुनिया की
दूसरी सबसे बड़ी यहूदी
आबादी वाले शहर में एक
इजराइल विरोधी के जीतने
से इजराइल सकते में है।**

‘लपूझन्ना’: अंधेरे दौर में चमकते सितारों की कथा

बहुत लंबे समय से ‘लपूझन्ना’ मेरी पुस्तकों के रैंक में पड़ी रही। इस अगस्त की बारिश ने मुझे उसे पढ़ने के लिए बढ़ा दिया। इस उपन्यास को पढ़ने के बाद मुझे इस बात का अफसोस रह गया, इसे पढ़ना मैं टालता क्यों रहा! संभवतः इसके लेखक अशोक पांडे से मैं उतना रूबरू नहीं था। उनकी ख्याति एक अच्छे अनुवादक की है। जैसे-जैसे उपन्यास के पन्नों से गुजरता गया, उसकी भाषा का रंग निखरता गया। इस उपन्यास के पात्र रामनगर की सड़क पर तेज कदम चलते, खेल के मैदान में खेलते और पिटाई में दोहरे होते दिखने लगे। आपातकाल की पृष्ठभूमि में रामनगर की चल रही जिंदगी में ऐसा कुछ भी नहीं दिखता जो उसके बिना भी घटित न हो रहा हो। हां, कर्मचारियों के अचानक हो जाने वाले ट्रांसफर ही इसका थोड़ा अहसास दिलाते हैं।

उपन्यास के पहले पन्ने पर रामनगर इस तरह दर्ज है: “घर के नजदीक ही एक मंदिर था। लाउडस्पीकर पर सुबह-शाम भजनों का एक घिसा हुआ रिकॉर्ड बजता। रिकॉर्ड की सुई चार या पांच जगह अटक जाती थी। ऐसा होने पर उसमें से ‘चचचचचच’ या ‘गगगगगग’ पर ठहरी हुई आवाज तब तक आती रहती जब तक कि कोई धर्मात्मा सुई को उठाकर आगे-पीछे न रख देता। सामने वाली खिड़की से बाईं तरफ देखने पर तीसेक मीटर दूर मस्जिद की चमकीली मीनार दिखाई देती जहां से दिन में पांच बार अजान आती थी। रामनगर आने से पहले मैं इन धार्मिक आवाजों से अनभिज्ञ था।” आज के उत्तराखंड के पहाड़ों से उतरते ही जिन मैदानी इलाकों में पैर पड़ते हैं उसमें रामनगर भी एक है।

इस छोटे से कस्बे में स्कूल, सरकारी ऑफिस, खेल का मैदान, सिनेमा हॉल, बाजार, बस स्टैंड और जिम काबैट पहुंचने का एक रास्ता है। इसमें मुहल्ले हैं जिसमें मुसलमान हैं जो पाकिस्तान और दुश्मन इलाके हैं और हिंदू बच्चे उधर जाने से डरते हैं। इसी मुसलमान मुहल्ले की



मस्जिद से सटी पटरी पर मुसलमान बच्चे कुछ न कुछ बेचते रहते हैं। इसी पटरी पर एक बच्ची सकीना ‘खील’ बेच रही है। अशोक पांडे नाम का बच्चा उससे पूछता है- “कित्ते की है?”/“तू हिंदू हैगा। तेरे लिए फिरी।” उसने एक कुल्हड़ मेरी तरफ बढ़ाया और फुसफुसाकर बोली, ‘सकीन हैगा मेरा नाम। सादी करेगा मुस्से?’ बस, इस बच्चे को सकीना से प्यार हो जाता है। यह प्यार ही पूरे उपन्यास का मूल कथ्य है।

उपन्यास का नायक लफत्तू पढ़ने से छत्तीस का आंकड़ा



हिमांशु जयहिंद

बनाये रखता है। एकदम बौड़म माना जाने वाला यह नायक अपने पिता और भाई से अधमरा हो जाने की हद तक मार खाता रहता है। लेकिन, उसका हम उम्रों के साथ और अशोक पांडे के साथ जो प्यार है, और उसे पहले प्यार का जो अहसास है, उसे पेश करने की जो अदा है वही इस उपन्यास का सूत बन गया है जिसके ताने-बाने पर रामनगर बुना जाता है।

आम तौर पर हिंदी में उपन्यासों को आंचलिक, कस्बाई जैसे शब्दों से श्रेणियां बनाने का रिवाज है। ये श्रेणियां किसी भी अच्छे उपन्यास को मार डालने के लिए सबसे अच्छे हथियार हैं। इस उपन्यास को पढ़ने के बाद मुझे सबसे पहले इसी बात का डर लगा, इसे यदि 'कस्बाई' के धारदार हथियार पर चढ़ाया गया तो इससे बड़ा गुनाह कुछ नहीं होगा। ऐसा कोई भी उपन्यास नहीं हो सकता जो कोई विशिष्ट कथ्य लेकर सामने नहीं आता हो। 'लपूझन्ना' में इसकी विशिष्टता काफी गाढ़े रंग में अभिव्यक्त हुई है। इसकी भाषा, इसका भूगोल, यहां के खेल और यहां पलने वाली आकांक्षाएं इतनी सघन होकर सामने आती हैं जिसके ऊपर-ऊपर से गुजर जाना मुश्किल है। आपको कायपद्म, पुगत्तम और रत्तीपईयां यहां के बच्चों के साथ खेलना पड़ेगा। और, लफतू की भाषा को पढ़ना, समझना होगा।

यह उपन्यास रामनगर के बच्चों को जिस तरह की और जिस तरह से शिक्षित किया जा रहा था, उसका एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। शिक्षकों की छात्रों के प्रति बेरहमी और उनकी अपनी कल्पनाशीलता, सृजनशीलता को बच्चों की नजर से जिस तरह से कथा में ढाला गया है, वह शानदार है। इस दौर में रामनगर में अभिभावकों द्वारा अंग्रेजी के महत्व को समझने और अपने बच्चों को उस ओर ले जाने की बेचैनी को इस उपन्यास में पढ़ा जा सकता है।

इस उपन्यास के अंत में इसका पात्र अशोक पांडे जब नैनीताल से कोट, पैट और टाई में रामनगर उतरता है और लफतू से खेल के मैदान में मिलने के लिए जाता है तब लफतू उसकी टाई और कोट को अपने गंदे हो चुके नेकर, कमीज और चप्पल के ऊपर धारण करता है। इस शानदार दृश्य में रामनगर के प्यार के ऊपर अधबंधी टाई लहराती हुई दिख रही है। प्यार के इस सलौने, बेदाग प्यार को पढ़ते हुए एकबारगी इस बात की ओर ध्यान जाता है, आखिर यह कब तक चलेगा और बना रहेगा? रामनगर की किशोरावस्था जीवन में जब अगला कदम रखेगी, इस दृश्य का सारा अर्थ अपने विपरीत में बदलता जाएगा। एक त्रासदी जो आम जिंदगी में नियति की तरह बनी रहती है।

बच्चों की दुनिया से बड़ों की कथा कहना, आसान नहीं होता। इस संदर्भ में मुझे मन्नू भंडारी का कथा शिल्प याद



29 नवंबर 1966 को उत्तरकाशी में जन्म। पैतृक गाँव उत्तराखंड के अल्मोड़ा जिले का ग्राम हल्दुवा। 'देखता हूँ सपने' शीर्षक से कविता-संग्रह 1992 में छपा। विश्व साहित्य से कविता, उपन्यास और गद्य के अनुवादों की करीब दो दर्जन पुस्तकें, एक साहित्य से कविता, उपन्यास और गद्य के अनुवादों की करीब दो दर्जन पुस्तकें, एक कथा-संग्रह 'बब्बन कार्बोनेट' और महिला विमर्श पर आधारित पुस्तक 'तारीख में औरत' प्रकाशित। लातीन अमेरिका और यूरोप के अलावा सुदूर हिमालयी इलाकों की सीमांत घाटियों की अनेक लंबी यात्राएँ। इनमें से कुछ के विवरण पुस्तकों की सूत्र में छपे हैं जिनमें 'श्रीन ऑफ़ द गॉड्स', 'अनडॉन्टेड स्ट्राइड्स' और 'द सॉन्ग सुप्रीम' प्रमुख हैं। निवृत्त की कविता पर विशेष कार्य। यात्रावृत्तों के अलावा सिनेमा, खेल, प्रमुख हैं। निवृत्त की कविता पर विशेष कार्य। यात्रावृत्तों के अलावा सिनेमा, खेल, अखबारों-पत्रिकाओं में छपता रहा है। चर्चित ब्लॉग 'कबाड़खाना' और उत्तराखंड की संस्कृति पर आधारित पहली वेबसाइट 'काफल ट्री' के संस्थापक-संपादक। उत्तराखंड के नैनीताल जिले के हल्द्वानी में रहते हैं। यह पहला उपन्यास।
संपर्क: +91-9997683353, ashokpande29@gmail.com



YELLOWROOTS India

आया। अशोक पांडे का कथा शिल्प उनसे काफी अलग है, निश्चित ही संदर्भ अलग है। बेकार मान लिए जाने वाले साइकल, टायरों के पहियों को रामनगर की गलियों में भगाते हुए चलाना, इतना आसान नहीं है। आज के समय में तो और भी मुश्किल। सच तो यही है कि यह विधा लोग या तो भूल गये हैं या भुला दिये गये हैं।

मेरे यहां के लोहार पुराने पड़ गये लोहे को ठोंक-पीटकर गोल 'डगरौना' में बदल देते थे। उन्हें लकड़ी के डंडे के सहारे भगाते हुए चलना न सिर्फ संतुलन भरा चाल बढ़ा देता था, बाद के समय में फुटबाल खेलने की खूबी भी दे देता था। अशोक पांडे इस खेल को उपन्यास में कस्बाई और शहराती जीवन के बीच रखकर इसकी खूबसूरती को नया रंग ही दे दिया है।

अशोक पाण्डे का उपन्यास 'लपूझन्ना' हिंदी उपन्यास रचना में एक शानदार उपलब्धि है। यह पढ़ने से छूट गये उन अध्यायों की ओर ले जाती है जिसे हम यूँ ही सहज मान लेते हैं लेकिन मन में गहरे पैठकर बने रहते हैं। यह उपन्यास मन के उस गहरे पैठ में पहुंचता है और खुलद को पढ़ने की ओर ले जाता है। इसलिए, इस उपन्यास को जरूर पढ़िए।

क्रांतिकारी आकाशगंगा के “प्रकाश पुंज” शहीद उधम सिंह

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास को जिस ढंग से प्रस्तुत किया गया है, उससे तीन बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम, यह धारणा कि भारत को स्वतंत्रता केवल अहिंसावादी साधनों के द्वारा प्राप्त हुई और इसका नेतृत्व महात्मा गांधी ने किया, आंशिक रूप से सही है। राष्ट्रीय आंदोलन में क्रांतिकारी विचारधारा, क्रांतिकारी व्यक्तियों, साम्यवादियों, समाजवादियों, क्रांतिकारी संस्थाओं और असंख्य क्रांतिकारियों के योगदान पर सही ढंग से प्रकाश नहीं डाला गया। वास्तव में, भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में क्रांतिकारियों द्वारा जीवन देकर दी गई आहुति अपने आप में एक अनोखा, अद्भुत और शानदार उदाहरण है, जो विश्व के विभिन्न देशों के इतिहास में दुर्लभ है।

भारतीय क्रांतिकारियों की विचारधारा, साधनों और कार्यप्रणाली पर विश्व के प्रसिद्ध क्रांतिकारियों-गैरीबाल्डी, कावूर, मेजिनी, कार्ल मार्क्स, लेनिन और अन्य सिद्धांतकारों-का गहरा प्रभाव पड़ा। रूस की साम्यवादी क्रांति भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के परवानों के लिए एक पथ-प्रदर्शक के रूप में थी।

भारतीय क्रांतिकारी संघर्ष के मुख्य नायक और नायिकाएँ

भारतीय क्रांतिकारी संघर्ष के इतिहास (1857 से 1947 तक) में असंख्य ज्ञात और अज्ञात क्रांतिकारियों ने भाग लिया। 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद स्वतंत्रता आंदोलन में खुदीराम बोस (बंगाल के प्रथम युवा शहीद), श्यामजी कृष्ण वर्मा, चापेकर बंधु, अरविंद घोष, बिपिन चंद्र पाल, सुभाष चंद्र बोस, राजा महेंद्र प्रताप, लाला हरदयाल, लाला लाजपत राय, चंद्रशेखर आजाद, करतार सिंह सराभा, मदनलाल हींगरा, अशफाक उल्ला खान, भगत सिंह, सुखदेव, राजगुरु और अनेक क्रांतिकारी महिलाओं-रानी लक्ष्मीबाई, अजीजन बाई, बेगम हजरत महल, बीना दास, प्रीतिलता वादेदार (बंगाल की प्रथम महिला शहीद), आबादी बानो बेगम (बी अम्मा), सुनीति चौधरी, भीकाजी कामा, कल्पना दत्ता आदि का योगदान उल्लेखनीय है।

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में बलिदान देने वाले शहीदों के जन्मदिवस या शहीदी दिवस पर यह चिंतन करना आवश्यक है कि इन महान बलिदानियों ने अपने जीवन में क्या-क्या कार्य किए और क्यों किए? उनकी विचारधारा क्या थी? वे अपनी विचारधारा को व्यावहारिक रूप देने में कहाँ तक सफल रहे? क्या वर्तमान सरकारें उनके चिंतन पर खरी उतरती हैं या केवल उनकी मूर्तियों और प्रतिमाओं पर माल्यार्पण करके इतिश्री कर लेती



हैं? इस लेख में क्रांतिकारी शहीद-ए-आजम उधम सिंह के संघर्षपूर्ण जीवन और उनकी विचारधारा की वर्तमान संदर्भ में प्रासंगिकता का वर्णन करने से पूर्व उनसे संबंधित विवादों का पर्दाफाश करना भी आवश्यक है।

उधम सिंह से संबंधित विवाद

1. जाति संबंधी विवाद

कुछ विद्वानों, जैसे शम्सुल इस्लाम, ने उधम सिंह को दलित सिख परिवार से जोड़ा। उनके लेख 'सांझी शहादत, सांझी विरासत की बंद पड़ी गौरव यात्रा' (समयांतर, वर्ष 50, अंक 9, जून 2019, पृष्ठ 29) में लिखा गया कि उधम सिंह का जन्म दलित परिवार में हुआ। दिल्ली विश्वविद्यालय और

सामाजिक अध्ययन फाउंडेशन द्वारा 8 अगस्त 2022 को आयोजित सेमिनार में भी उन्हें दलित जाति से जोड़ा गया।

उत्तर प्रदेश की पूर्व मुख्यमंत्री मायावती ने उधम सिंह नगर जिले का नामकरण चमार जाति से जोड़कर किया। इसके अतिरिक्त, सैनी, कुर्मी और कोली समुदायों ने भी उधम सिंह को अपनी जाति से जोड़ने का प्रयास किया। हमारा मानना है कि शहीदों की कुर्बानी को जाति, धर्म या क्षेत्र के दायरे में बाँधना उचित नहीं, क्योंकि यह पूरे राष्ट्र और मानवता के लिए होती है। फिर भी, ऐतिहासिक तथ्यों की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए। साक्ष्यों के अनुसार, उधम सिंह कंबोज जाति से थे, और उनकी कुर्बानी भारत की स्वतंत्रता और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए थी।

2. जलियांवाला बाग हत्याकांड का बदला: भ्रामक धारणा

यह आम धारणा कि उधम सिंह ने कर्नल रेजिनार्ल्ड एडवर्ड हैरी डायर (9 अक्टूबर 1864 – 23 जुलाई 1927), जिन्हें 'अमृतसर का कसाई' कहा जाता है, को मारकर जलियांवाला बाग हत्याकांड (1919) का बदला लिया, भ्रामक है। यह धारणा फिल्म रंग दे बसंती में भी प्रचारित हुई। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि डायर की मृत्यु 23 जुलाई 1927 को हो चुकी थी। वास्तव में, उधम सिंह ने सर माइकल फ्रांसिस ओ'डायर (28 अप्रैल 1864 – 13 मार्च 1940), तत्कालीन पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर और जलियांवाला बाग नरसंहार के प्रमुख योजनाकार, को 1940 में मारकर बदला लिया।

3. जलियांवाला बाग हत्याकांड के दिन उधम सिंह की उपस्थिति

पंजाब शिक्षा विभाग की पाठ्यपुस्तक पंजाबी पाठ (PSEB, चौथी कक्षा) में दावा किया गया कि 13 अप्रैल 1919 को जलियांवाला बाग हत्याकांड के समय उधम सिंह वहाँ उपस्थित नहीं थे और लंदन में थे। यह दावा ऐतिहासिक तथ्यों के विपरीत है। सरकारी रिकॉर्ड, विद्वानों के लेख, इतिहासकारों के शोध और उधम सिंह के मुकदमे की पैरवी करने वाले वकील वी.के. कृष्ण मेनन के बयानों से पुष्टि होती है कि उधम सिंह उस दिन जलियांवाला बाग में मौजूद थे। वे और उनके अनाथालय के साथी वहाँ लोगों को पानी पिला रहे थे। अर्थात्, उधम सिंह हत्याकांड के प्रत्यक्षदर्शी थे।

4. उधम सिंह की मूर्तियों और चित्रों से संबंधित विवाद

उधम सिंह की मूर्तियों और चित्रों के संबंध में समय-समय पर विवाद उठते रहे हैं। इसका प्रमुख उदाहरण उनके पैतृक गाँव सुनाम (पंजाब) में स्थापित मूर्तियाँ हैं। विनय लाल के अनुसार, सुनाम में एक ही वर्ष में उनकी दो मूर्तियाँ स्थापित की गईं, जो एक-दूसरे के निकट हैं। एक मूर्ति में उन्हें खालसा सिख के रूप में दर्शाया गया है, जिसमें उनके बाल कटे हुए हैं और दाढ़ी है, जबकि दूसरी मूर्ति में उन्हें एक साफ-सुथरे हिंदू व्यक्ति के रूप में दिखाया गया है। हालाँकि, ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार, माइकल

ओ'डायर की हत्या के समय उधम सिंह ने सिर पर हैट पहनी थी, जो इन चित्रणों से भिन्न है।

5. रोगी, हत्यारा, कम पढ़ा-लिखा और निम्न जाति से संबंधित अनुचित अवधारणाएँ

अनीता आनंद की पुस्तक द पेशेंट असेसिन: ए टू टेल ऑफ मसैकर, रिवेंज, एंड इंडियाज़ क्वेस्ट फॉर इंडिपेंडेंस (अप्रैल 2019) में उधम सिंह को 'रोगी हत्यारा', 'कम पढ़ा-लिखा', और 'निम्न जाति' से संबंधित बताया गया है। लेखिका के अनुसार, ब्रिटेन में उधम सिंह को अत्यधिक घृणित व्यक्ति माना जाता था, जबकि भारत में उन्हें नायक के रूप में सम्मान प्राप्त था। अनीता आनंद ने क्राइमरीड्स की प्रबंध संपादक मौली ओडिटज़ को दिए एक ऑनलाइन साक्षात्कार में कहा: "उस क्षण (13 मार्च 1940) तक, उधम सिंह कोई नहीं थे, कुछ भी नहीं थे—एक ऐसा व्यक्ति जिसके पास कोई शक्ति नहीं थी। वह न केवल एक गरीब, 'निम्न जाति और कम शिक्षित' अनाथ था, बल्कि वह उस देश का 'मूल निवासी' भी था, जहाँ भारतीयों के पास बहुत कम शक्ति थी और निचली जातियों के पास कुछ भी नहीं था। अपने पूरे युवावस्था में अदृश्य, नगण्य और शक्तिहीन रहे उधम सिंह का बदला लेने का संकल्प ही उन्हें नायक बनाता है, कम से कम उनके अपने मन में। यह विचार उनके लिए मादक था और उनका जुनून बन गया, जिसने उन्हें दो दशकों से अधिक समय तक प्रेरित किया।"

उपरोक्त अवधारणाएँ गलत, अनैतिहासिक, अनुचित, भ्रामक और तथ्यहीन हैं। उधम सिंह का जन्म कंबोज जाति में हुआ, जो एक ऐतिहासिक तथ्य है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने रेजिनार्ल्ड डायर को नहीं, बल्कि पंजाब के तत्कालीन लेफ्टिनेंट गवर्नर माइकल ओ'डायर की हत्या की थी। उधम सिंह जलियांवाला बाग नरसंहार के प्रत्यक्षदर्शी थे और उस समय विदेश में नहीं थे। अनीता आनंद का यह दावा कि उधम सिंह रोगी, हत्यारा, कम शिक्षित और निम्न जाति से थे, भी अस्वीकार्य है। सन् 1918 में मैट्रिक पास करना उस समय कम शिक्षा नहीं मानी जाती थी। साथ ही, एक रोगी व्यक्ति इतना धैर्यवान और गंभीर नहीं हो सकता, जितना उधम सिंह थे। अनीता आनंद की इस पुस्तक को सन् 2020 में हेसल-टिल्टमैन पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

वास्तव में, उधम सिंह एक धैर्यवान, शूरवीर, साहसी, राष्ट्रवादी, महान देशभक्त, समाजवादी क्रांतिकारी और यथार्थवादी व्यक्ति थे, जो देश की आजादी के लिए सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार थे। अपने मिशन को पूरा करने के लिए उन्होंने यूरोप, पूर्वी यूरोप, अफ्रीका और अमेरिका जैसे चार महाद्वीपों की यात्रा की। उन्होंने जर्मनी के राष्ट्रवादियों, रूस के साम्यवादियों, और अफ्रीका, अमेरिका व इंग्लैंड में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोधियों से संपर्क स्थापित किया। यह किसी रोगी व्यक्ति का कार्य नहीं हो सकता, बल्कि यह एक मानसिक और शारीरिक रूप से स्वस्थ व सुदृढ़ व्यक्ति का कार्य है। यही कारण है कि उन्होंने अपने मिशन को पूरा करने के लिए 21 वर्ष तक प्रतीक्षा की।

पंजाब की माटी में जन्मे क्रांतिकारी शिरोमणि शहीद उधम सिंह का नाम हमेशा युवाओं में राष्ट्रभक्ति का संचार करता रहेगा। उन्होंने जलियाँवाला बाग नरसंहार को अपनी आँखों से देखा था और पंजाब के तत्कालीन लेफ्टिनेंट गवर्नर माइकल ओ'डायर से खून का बदला खून से लेने की कसम खाई थी, यद्यपि उनकी कोई व्यक्तिगत शत्रुता माइकल ओ'डायर से नहीं थी।

आपने शहीद उधम सिंह के जीवन और जलियाँवाला बाग नरसंहार की पृष्ठभूमि से संबंधित एक विस्तृत पाठ प्रदान किया है। मैंने आपके पाठ की वर्तनी, व्याकरण, और शैलीगत त्रुटियों को सुधारने के लिए इसे ध्यानपूर्वक देखा। नीचे सुधारा गया पाठ प्रस्तुत है, जिसमें वर्तनी, विराम चिह्न, और भाषा की प्रवाहमयता को ठीक किया गया है। मैंने मूल अर्थ और भाव को बनाए रखते हुए केवल आवश्यक सुधार किए हैं।

मुसीबतों का पहाड़ और टूटा बचपन

अमर शहीद उधम सिंह का जन्म 26 दिसंबर 1899 को तत्कालीन पटियाला स्टेट (वर्तमान पंजाब) के लाहौर से 130 मील दूर दक्षिण में सुनाम के पिलबाद इलाके में कंबोज जाति के जम्मू गोत्र में हुआ। उधम सिंह के पिता का नाम सरदार टहल सिंह कंबोज और माता का नाम श्रीमती नारायण कौर था। उनके माता-पिता ने उनका नाम शेर सिंह रखा। उस समय किसी को यह आभास नहीं था कि भविष्य में यही बालक शेर सिंह विश्व प्रसिद्ध क्रांतिकारियों की आकाशगंगा में ध्रुव तारे की तरह प्रकाशमान होगा और क्रांतिकारियों की श्रेणी में अग्रणी स्थान प्राप्त कर भारतीय क्रांतिकारी इतिहास का एक स्वर्णिम और गौरवपूर्ण पृष्ठ बनेगा। इतना ही नहीं, वह आने वाली पीढ़ियों के लिए एक आदर्श, प्रेरक और क्रांतिकारी राजकुमार के रूप में स्थापित होगा।

इस परिवार पर मुसीबतों का पहाड़ तब टूटा, जब बचपन में उनकी माता का सन् 1901 में और पिता का सन् 1907 में देहांत हो गया। उनकी देखभाल करने वाला कोई नहीं था। किशन सिंह रागी ने दोनों भाइयों, शेर सिंह और साधु सिंह, को सेंट्रल खालसा अनाथालय, पुतलीघर, अमृतसर में भर्ती कराया। अनाथालय के आधिकारिक रजिस्टर के अनुसार, 28 अक्टूबर 1907 को सिख धर्म के नियमानुसार दोनों भाइयों का नामकरण संस्कार (दीक्षा) हुआ। पुनर्बपतिस्मा (दीक्षा) के बाद शेर सिंह का नाम उधम सिंह और साधु सिंह का नाम मुक्ता सिंह रखा गया।

सैनिक के रूप में:

उस समय प्रथम विश्व युद्ध चल रहा था, और ब्रिटिश साम्राज्यवादी सरकार को सैनिकों की आवश्यकता थी। परिणामस्वरूप, सन् 1918 में कम उम्र होने के बावजूद, उधम सिंह को उनके अनुरोध पर सेना में भर्ती कर लिया गया। उन्होंने 32 सिख पायनियर्स के एक सैनिक के रूप में समुद्र तट से बसरा क्षेत्र तक रेलवे की बहाली के लिए काम शुरू किया। लेकिन कम उम्र और उच्च अधिकारियों के साथ मतभेद के कारण उन्हें अपनी नौकरी

छोड़नी पड़ी और वापस भारत (पंजाब) लौटना पड़ा। छह महीने के भीतर, वह फिर से सेना में भर्ती हो गए और उन्हें बढईगीरी, मशीनरी, और वाहनों के रखरखाव व मरम्मत के लिए बसरा और बगदाद भेजा गया। लेकिन फिर से विवाद के कारण, वह सन् 1919 की शुरुआत में अमृतसर के अनाथालय में वापस आ गए। इस अनुभव ने उन्हें और अधिक निराशा में डाल दिया।

प्रथम विश्व युद्ध : असंतोष और रोष की चरम सीमा

हमारे सुधी पाठकों के लिए जलियाँवाला बाग नरसंहार की पृष्ठभूमि समझना अति आवश्यक है। प्रथम विश्व युद्ध (सन् 1914-1918) के समय अंग्रेजी सरकार का कहना था कि युद्ध स्वतंत्रता के लिए लड़ा जा रहा है। इस युद्ध में भारतीयों ने अंग्रेजी सरकार की अभूतपूर्व सहायता की। सन् 1914-1916 तक 1,92,000 भारतीय सैनिकों में पंजाब के सैनिकों की संख्या 1,10,000 थी। जनता ने न केवल सैनिक दिए, बल्कि 2 करोड़ रुपये युद्ध चंदा के रूप में और 10 करोड़ रुपये ब्याज के रूप में भी दिए। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटिश साम्राज्यवादी सरकार ने भारतीय जनता से स्वैच्छिक और बलपूर्वक चंदा लिया। युद्ध में 43,000 सैनिकों की मृत्यु के कारण सैनिक परिवारों की आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई। युद्ध के दौरान जनता से बलपूर्वक युद्ध चंदा इकट्ठा करना, अभूतपूर्व महंगाई, बेरोजगारी, भुखमरी, जनता पर कर्ज, महामारी, असंतुलित मानसून, किसानों की दुर्दशा, आर्थिक मंदी, गदर पार्टी के क्रांतिकारी आंदोलन का पंजाबी युवाओं पर निरंतर बढ़ता प्रभाव, और तुर्की में पैन-इस्लामिक मूवमेंट के कारण भारतीय जनता में असंतोष और रोष की भावना चरम सीमा पर थी।

अराजक एवं क्रांतिकारी अपराध अधिनियम 1919 (रौलट एक्ट)

पंजाब सरकार ने असंतोष को दबाने के लिए अराजक एवं क्रांतिकारी अपराध अधिनियम 1919 (रौलट एक्ट) लागू किया। रौलट एक्ट 1919 के अंतर्गत सरकार को प्रेस पर नियंत्रण, स्वतंत्रता आंदोलन पर रोक, नेताओं को बिना मुकदमा चलाए जेल में डालने, बिना वारंट गिरफ्तारी, और विशेष न्यायाधिकरणों तथा बंद कमरों में बिना किसी जवाबदेही के अभियोग चलाने जैसे अधिकार प्राप्त थे। भारतीयों ने रौलट एक्ट को 'काला कानून' कहकर इसकी कड़ी आलोचना की। इसके विरुद्ध 'नो अपील, नो दलील, नो वकील' का नारा पूरे हिंदुस्तान में गूंज उठा। इस काले कानून का पंजाब में सर्वाधिक विरोध हुआ।

13 अप्रैल 1919: पंजाब में बैसाखी का त्योहार जलियाँवाला बाग नरसंहार में बदल गया

13 अप्रैल को पंजाब और विदेशों में पंजाबियों द्वारा बैसाखी का त्योहार हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता है। यह त्योहार फसल कटाई के मौसम की शुरुआत का प्रतीक है और सिखों के लिए एक महत्वपूर्ण धार्मिक



अवसर भी है, क्योंकि इसी दिन 13 अप्रैल, 1699 को गुरु गोबिंद सिंह जी ने आनंदपुर साहिब में खालसा पंथ की स्थापना की थी। यह सिख नव वर्ष की शुरुआत का प्रतीक भी है। इस त्योहार में सिखों के अतिरिक्त हिंदू, मुस्लिम, और ईसाई धर्मों के अनुयायी भी शामिल होकर उत्सव मनाते हैं।

13 अप्रैल 1919 को बैसाखी की सुबह ब्रिगेडियर जनरल आर.ई.एच. डायर ने अमृतसर शहर में नए नियम लागू किए। इन नियमों के अंतर्गत लोगों को बिना परमिट के शहर छोड़ने, किसी भी तरह के जलूसों, और चार से अधिक लोगों की सभा पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। सबसे खतरनाक नियम यह था कि “रात 8 बजे के बाद सड़कों पर पाए जाने वाले किसी भी व्यक्ति को गोली मार दी जाएगी।” नगर प्रचारकों द्वारा सैन्य ड्रमों की धुन के साथ शहर में मुनादी की गई, लेकिन गर्मी और शोर-शराबे के कारण भीड़-भाड़ वाले प्रमुख स्थानों पर इसका व्यापक प्रचार-प्रसार नहीं हो सका। ब्रिगेडियर जनरल आर.ई.एच. डायर को उसी दिन दोपहर 12:40 बजे सूचना मिली कि जलियाँवाला बाग में एक राजनीतिक सभा आयोजित हो रही है। इस शांतिपूर्ण सभा को दबाने और भारतीयों को सबक सिखाने की सुनियोजित योजना के तहत डायर, 2-9वीं गोरखा, 54वीं सिख, और 59वीं सिंध राइफल्स के 90 सैनिकों (सिख, गोरखा, बलूच, और राजपूत) के साथ शाम 5:15 बजे सभा स्थल पर पहुँचे। उस समय वहाँ लगभग 20,000 लोग, जिनमें हिंदू, सिख, मुस्लिम, और ईसाई, सभी आयु वर्ग के पुरुष, महिलाएँ, और बच्चे शामिल थे, शांतिपूर्वक एकत्रित थे। डायर ने

बिना किसी चेतावनी के गोली चलाने का आदेश दिया। सैनिकों ने लगभग 1650 गोलियाँ चलाई, और गोलीबारी तब तक जारी रही जब तक गोलियाँ समाप्त नहीं हो गईं। अमृतसर के सिविल सर्जन डॉ. स्मिथ के अनुसार, इस हत्याकांड में लगभग 1800 लोग मारे गए, जिनमें 41 बच्चे और एक 6 सप्ताह का शिशु भी शामिल था। लगभग 1200 लोग घायल हुए। ब्रिटिश सरकार ने 581 व्यक्तियों पर मुकदमे चलाए, जिनमें से 108 को मृत्युदंड, 265 को आजीवन कारावास, 85 को सात वर्ष की कैद, और शेष को अपमानित किया गया। जलियाँवाला बाग नरसंहार 1857 की जनक्रांति के बाद 20वीं सदी की सबसे रक्तरेणु, बर्बर, और अमानवीय घटना थी। दीनबंधु एफ. एंड्रयूज ने इसे “जानबूझकर की गई क्रूर हत्या” कहकर आलोचना की। थॉमसन और गैरट के अनुसार, “अमृतसर की यह घटना भारत-ब्रिटिश संबंधों में युगांतरकारी थी, जैसा कि 1857 का विद्रोह था।”

जलियाँवाला बाग नरसंहार का ब्रिटिश हाउस में आलोचना

जलियाँवाला बाग नरसंहार पर ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स में व्यापक चर्चा और आलोचना हुई। तत्कालीन युद्ध सचिव विंस्टन चर्चिल ने इसे “अत्यंत भयानक” कहकर निंदा की। हाउस ऑफ कॉमन्स में हुए मतदान में 247 सांसदों ने डायर के खिलाफ वोट दिया, जबकि केवल 37 ने उनका समर्थन किया। यह मतदान और बहस ब्रिटिश जनता के गुस्से और असंतोष का प्रतीक थी। भारत में इस सुनियोजित नरसंहार ने जनता का आक्रोश

सातवें आसमान पर पहुँचा दिया, जिसके परिणामस्वरूप असहयोग आंदोलन को बल मिला और जन आंदोलनों, किसान आंदोलनों, मजदूर संघर्षों, और राष्ट्रीय आंदोलन में एक नया मोड़ आया। दूसरे शब्दों में, जलियाँवाला बाग नरसंहार एक युगांतरकारी घटना थी, जिसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पतन की नींव रखी।

उधम सिंह ने इस हत्याकांड को स्वयं देखा था और “खून का बदला खून” से लेने की सौगंध ली थी। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को समूल नष्ट करने की कसम खाई। इस नरसंहार ने उनके जीवन पर गहरी छाप छोड़ी, और उन्होंने पंजाब के तत्कालीन लेफ्टिनेंट गवर्नर माइकल ओ’डायर को मारने का संकल्प लिया।

राष्ट्रीय नेताओं और क्रांतिकारियों का प्रभाव

उधम सिंह के जीवन दर्शन और चिंतन पर अमृतसर कांग्रेस अधिवेशन (दिसंबर 1919) में स्वामी श्रद्धानंद सहित प्रमुख राष्ट्रीय नेताओं के भाषणों, प्रसिद्ध क्रांतिकारियों, और गदर पार्टी के नेताओं जैसे लाला हरदयाल, प्रोफेसर मोता सिंह, सरदार बसंत सिंह, बाबा सोहन सिंह भकना, करतार सिंह सराभा, भगत सिंह के चाचाओं सरदार अजीत सिंह और सरदार स्वर्ण सिंह, सत्यपाल, डॉ. सैफुद्दीन किचलू, और लाला लाजपत राय के व्यक्तित्व और विचारों का अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा।

बब्बर अकाली लहर – ‘बाबाओं’ का प्रभाव

उधम सिंह के चिंतन पर बब्बर अकाली लहर का भी प्रभाव था, क्योंकि उन्होंने ‘बाबाओं’ के साथ काम किया था। 1924 में अमेरिका प्रवास के दौरान उन्होंने गदर पार्टी के नेताओं और कार्यकर्ताओं से न केवल मुलाकात की, बल्कि उनकी कार्यप्रणाली से भी प्रभावित हुए। गदर पार्टी का उद्देश्य भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने के लिए प्रवासी भारतीयों को संगठित करना था।

मार्क्सवाद, लेनिनवाद, और बोल्शेविकवाद का प्रभाव

उधम सिंह के चिंतन पर मार्क्सवाद, लेनिनवाद, और बोल्शेविकवाद का भी प्रभाव था। जुलाई 1927 में अमृतसर के रामबाग में उन्हें आर्म्स एक्ट की धारा 20 के तहत गिरफ्तार किया गया। उनके पास गदर पार्टी का प्रतिबंधित समाचार पत्र “गदर-ए-गूज” भी मिला, जिसे जब्त कर लिया गया। यही कारण है कि उन्हें “सिख पंजाबी मार्क्सवादी” कहा गया। उनकी प्रेरणा का स्रोत रूस के बोल्शेविक भी थे। वे बाबा ज्वाला सिंह की पुस्तक “गदर” से भी अत्यधिक प्रभावित थे।

क्रांतिकारी गतिविधियों के लिए गिरफ्तारी व 5 साल की सजा

अमेरिका प्रवास के दौरान उधम सिंह का भगत सिंह के साथ पत्र-व्यवहार

था। भगत सिंह के बुलावे पर ही वे 1927 में भारत लौटे। उन्हें 25 साथियों, रिवाल्वर, गोला-बारूद, और गदर पार्टी के समाचार पत्र “गदर-ए-गूज” की कुछ प्रतियों के साथ गिरफ्तार किया गया। परिणामस्वरूप, उन पर मुकदमा चला और 5 साल की सजा सुनाई गई। 23 मार्च 1931 को जब सुखदेव, भगत सिंह, और राजगुरु को फाँसी दी गई, उस समय उधम सिंह जेल में सजा काट रहे थे। 1931 में जेल से रिहा होने के बाद, उन्होंने गुप्तचर विभाग और पंजाब पुलिस को चकमा देते हुए कश्मीर के रास्ते जर्मनी पहुँच गए और 1934 में लंदन पहुँचने में सफल हुए।



चार महाद्वीपों की यात्राओं और प्रवास के दौरान, उधम सिंह ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जर्मनी के राष्ट्रवादियों, रूस के साम्यवादियों, और अफ्रीका, अमेरिका व इंग्लैंड में ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोधियों से संपर्क स्थापित किया।

विदेशी यात्राओं व प्रवास का प्रभाव

उधम सिंह ने अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न छद्म नामों से चार महाद्वीपों-यूरोप, पूर्वी यूरोप, अफ्रीका और अमेरिका-के देशों की यात्राएँ कीं। इन देशों में अफ्रीका (1920), नैरोबी (1921), अमेरिका (1924), जर्मनी, जिम्बाब्वे, ब्राजील, मिस्र, इथियोपिया, रूस और अंततः इंग्लैंड (1934) प्रमुख हैं। सन् 1920 में सिंह अफ्रीका पहुँचने में सफल हुए, जहाँ उस समय रंगभेद की नीति (गोरे-काले के बीच भेदभाव) व्यापक थी। इसका उनके विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा। दक्षिण अफ्रीका में तीन वर्ष के प्रवास के दौरान उन्होंने रेलवे वर्कशॉप में नौकरी की और एक कुशल वक्ता के रूप में उभरे, साथ ही अंग्रेजी भाषा में भी निपुणता हासिल की।

चार महाद्वीपों की यात्राओं और प्रवास के दौरान, उधम सिंह ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जर्मनी के राष्ट्रवादियों, रूस के साम्यवादियों, और अफ्रीका, अमेरिका व इंग्लैंड में ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोधियों से संपर्क स्थापित किया। परिणामस्वरूप, उनके चिंतन और व्यक्तित्व में अभूतपूर्व परिपक्वता आई।

छद्म नाम: लंदन मेट्रोपॉलिटन पुलिस रिपोर्ट (फाइल)

क्रांतिकारी गतिविधियों को संचालित करने के लिए क्रांतिकारियों को अनेक रूप और नाम धारण करने पड़ते थे ताकि उनकी पहचान गुप्त रहे। उधम सिंह ने भी अपनी पहचान छिपाने के लिए समय-समय पर नाम और वेशभूषा में परिवर्तन किए। परिणामस्वरूप, भगत सिंह की तरह उन्होंने सिख धर्म के प्रतीकों का परित्याग कर ‘क्लीन शेव्ड’ रूप अपनाया और टोपी, उच्च गुणवत्ता वाले सूट उनकी पोशाक का हिस्सा बने। लंदन मेट्रोपॉलिटन पुलिस फाइल (MEPO 3/1743) के अनुसार, उन्होंने अपने अपेक्षाकृत छोटे जीवन में विभिन्न चरणों में कई नाम अपनाए, जैसे- उदे, शेर सिंह, उदय फ्रैंक ब्राजील, उदे सिंह, उधम सिंह कम्बोज, मोहम्मद सिंह आजाद, और राम मोहम्मद सिंह आजाद। मेट्रोपॉलिटन पुलिस रिपोर्ट (फाइल MEPO 3/1743, दिनांक 16 मार्च 1940) के अनुसार, वे एक

अत्यंत सक्रिय, खूब यात्रा करने वाले, राजनीति से प्रेरित, धर्मनिरपेक्ष सोच वाले युवक थे, जिनके जीवन में कुछ महान उद्देश्य थे और जो भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति तीव्र घृणा से प्रेरित थे।

राम मोहम्मद सिंह आजाद

‘राम मोहम्मद सिंह आजाद’ नाम वास्तव में सांप्रदायिक सद्भाव, धर्मनिरपेक्षता, सहनशीलता और गंगा-जमुनी संस्कृति का प्रतीक है। ‘राम’ हिंदू धर्म से, ‘मोहम्मद’ इस्लाम से, और ‘सिंह’ सिख धर्म से संबंधित हैं।

इस नाम के माध्यम से उन्होंने पंजाबी संस्कृति को दर्शाते हुए राष्ट्रवाद, धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रीय एकता और विभिन्न धर्मों के बीच सौहार्दपूर्ण संबंधों को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया। यह नाम धर्म, जाति और क्षेत्र की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर राष्ट्रवाद और धर्मनिरपेक्षता को अपनाने की प्रेरणा देता है। वर्तमान संदर्भ में, जहाँ धार्मिक कट्टरवाद के नारे गूंज रहे हैं, यह नाम अत्यंत प्रासंगिक है। समय की आवश्यकता है कि लोग संकीर्णताओं से मुक्त होकर समाज और राष्ट्र के विकास में योगदान दें ताकि न्यूनतम सुविधाएँ-रोटी, कपड़ा, रोजगार, मकान, शिक्षा और स्वास्थ्य-सभी को उपलब्ध हों, भुखमरी से मुक्ति मिले, और भारत उधम सिंह जैसे क्रांतिकारियों के स्वप्न के अनुरूप एक समृद्ध राष्ट्र बने। यद्यपि उस समय भारत ब्रिटिश साम्राज्य में गुलाम था, परंतु उधम सिंह ने क्रांतिकारी परंपरा का अनुसरण करते हुए कभी स्वयं को पराधीन नहीं माना। यही कारण है कि उन्होंने अपने नाम के साथ ‘आजाद’ शब्द जोड़ा, जिसका अर्थ ‘स्वतंत्र’ है।

इंग्लैंड में प्रवास: निवास स्थान में बार-बार परिवर्तन

उधम सिंह ने लंदन में अपने निवास स्थान को बार-बार बदला, जिससे ब्रिटिश पुलिस और गुप्तचर विभाग असमंजस में रहे। सन् 1934 में ‘राम मोहम्मद सिंह’ के नाम से पासपोर्ट बनवाकर वे लंदन पहुँचे और 9 एडलर स्ट्रीट, कमर्शियल रोड पर एक घर किराए पर लिया। 12 मई 1936 को हॉलैंड, जर्मनी, पोलैंड, ऑस्ट्रिया, हंगरी और इटली के लिए पासपोर्ट हेतु आवेदन करते समय उन्होंने 4 ड्यूक स्ट्रीट, स्पाइटल फील्ड्स का पता दिया। 26 जून 1936 को लेनिनग्राद से लंदन लौटने पर उन्होंने वेस्ट एंड ऑफ लंदन को अपना पता बताया। लंदन में रहते हुए, वे फिल्म स्टूडियो में भीड़ के दृश्यों में काम करते रहे। निवास स्थान में लगातार बदलाव के कारण ब्रिटिश पुलिस और गुप्तचर विभाग उन्हें पकड़ नहीं सका।

राष्ट्रीय पंजीकरण के दौरान उन्हें सीरियल नंबर EACK/305/7 के तहत ‘आजाद सिंह’ के नाम से पंजीकृत किया गया, जिसमें उन्होंने अपना पता 581, बिम्बोर्न रोड, Bournemouth और व्यवसाय बढ़ई बताया।

गुप्तचर विभाग की रिपोर्ट (23 फरवरी 1938) के अनुसार, वे इंडियन स्टूडेंट्स हॉस्टल, गोवर स्ट्रीट, NW1 में भी रहे। गुप्तचर विभाग ने यह भी स्वीकार किया कि उधम सिंह ने 30, चर्च लेन, E1 को भी अपना पता बताया, परंतु वहाँ छापेमारी करने पर वह स्थान एक वेयरहाउस निकला। उधम सिंह को यह जानकारी थी कि ब्रिटिश गुप्तचर विभाग उनकी गतिविधियों पर निरंतर निगरानी रख रहा था।

निवास स्थान में बार-बार परिवर्तन ने पुलिस और गुप्तचर विभाग को असमंजस में डाल दिया, जिसके कारण उन्हें गिरफ्तार नहीं किया जा सका। अगस्त 1938 में उन पर लंदन में एक मुकदमा भी चला, परंतु वे ट्रायल के बाद छूट गए। 1 सितंबर 1939 को द्वितीय विश्व युद्ध शुरू हुआ, जिसके दौरान ब्रिटिश पुलिस और गुप्तचर विभाग युद्ध विरोधियों पर नजर रखने में व्यस्त हो गए। इससे उधम सिंह की निगरानी कम हुई, जो उनके उद्देश्यों की पूर्ति में लाभकारी सिद्ध हुई।

उधम और भगत सिंह में घनिष्ठ संबंध: भगत सिंह का प्रभाव

उधम सिंह और भगत सिंह के बीच मैत्रीपूर्ण और घनिष्ठ संबंध थे। उधम सिंह, भगत सिंह को अपना परम मित्र और गुरु मानते थे। दोनों के चिंतन और कार्यप्रणाली में निम्नलिखित समानताएँ थीं:

प्रेरणा के स्रोत: दोनों के चिंतन पर जलियाँवाला बाग नरसंहार (13 अप्रैल 1919), ग़दर पार्टी, बब्बर अकाली लहर, ब्रिटिश साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय नेताओं व आंदोलनों का प्रभाव था।

सामाजिक-आर्थिक मुद्दे: दोनों महंगाई, बेरोजगारी, भुखमरी, जनता पर कर्ज, और भारतीय व विदेशी पूँजीपतियों, साम्राज्यवादी सरकारों, नरेशों, नवाबों व राजाओं द्वारा जनसाधारण के शोषण से प्रभावित थे।

समतावादी समाज: दोनों ने इन समस्याओं को समूल नष्ट करने और शोषण-मुक्त समतावादी समाज स्थापित करने का संकल्प लिया। वर्तमान संदर्भ में, उनका चिंतन उदारीकरण, निजीकरण, वैश्वीकरण और कॉर्पोरेटीकरण के विरुद्ध था।

धर्मनिरपेक्षता: दोनों धर्म, सांप्रदायिकता, पाखंड और अंधविश्वास के खिलाफ थे। भगत सिंह की तरह उधम सिंह भी राष्ट्र और सिद्धांतों के लिए जीवन बलिदान करने को तैयार थे, क्योंकि उन्हें मृत्यु का कोई भय नहीं था।

प्रतिरोध के तरीके: यद्यपि दोनों गांधीवादी तरीकों के खिलाफ थे, फिर भी भगत सिंह ने लाहौर सेंट्रल जेल में 116 दिन की भूख हड़ताल की। उधम सिंह ने भी इंग्लैंड की जेल में यातनाओं के विरोध में 42 दिन की भूख हड़ताल की।

12 मई 1936 को हॉलैंड, जर्मनी, पोलैंड, ऑस्ट्रिया, हंगरी और इटली के लिए पासपोर्ट हेतु आवेदन करते समय उन्होंने 4 ड्यूक स्ट्रीट, स्पाइटल फील्ड्स का पता दिया। 26 जून 1936 को लेनिनग्राद से लंदन लौटने पर उन्होंने वेस्ट एंड ऑफ लंदन को अपना पता बताया।

नारे: दोनों के स्लोगन-‘इंकलाब जिंदाबाद’ और ‘ब्रिटिश साम्राज्यवाद मुर्दाबाद’-प्रसिद्ध थे। इन समानताओं से स्पष्ट है कि उधम सिंह के चिंतन पर भगत सिंह का गहरा प्रभाव था।

उधम सिंह: क्रांतिकारी संगठनों के सक्रिय सदस्य व संगठनकर्ता

उधम सिंह भारतीय मजदूर संघ, हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन (भारत), इलेक्ट्रीशियन यूनियन (इंग्लैंड), वर्कर्स एसोसिएशन (IWA), और ग़दर पार्टी (अमेरिका) जैसे क्रांतिकारी संगठनों के सक्रिय सदस्य थे। भारतीयों को क्रांतिकारी उद्देश्यों के लिए संगठित करने हेतु, उन्होंने लंदन में ‘आजाद पार्टी’ की स्थापना भी की।

उधम सिंह के चरित्र और मूल्यों को कई कारकों ने प्रभावित किया। बचपन में माता-पिता और भाई मुक्ता सिंह की मृत्यु (1917), अभावग्रस्त पालन-पोषण, अकेलापन, पारिवारिक गरीबी और अनाथालय का जीवन उन्हें मनोवैज्ञानिक रूप से साहसी और जुझारू बनाया। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा भारतीय संसाधनों का शोषण, भारतीयों पर अत्याचार, गरीबी, भुखमरी और बेरोजगारी ने उनके विचारों को आकार दिया। जलियाँवाला बाग नरसंहार (13 अप्रैल 1919) का उनके राजनीतिक दर्शन पर सबसे गहरा प्रभाव पड़ा। बब्बर अकाली लहर, मार्क्सवाद, लेनिनवाद, बोल्शेविज्म और विभिन्न क्रांतिकारी संगठनों ने भी उनके विचारों को समृद्ध किया। चार महाद्वीपों के एक दर्जन से अधिक देशों की यात्राएँ और भगत सिंह के चरित्र, विचारों व निस्वार्थता ने उन्हें सबसे अधिक प्रभावित किया। भगत सिंह उनके सबसे अच्छे मित्र और गुरु थे।

उधम सिंह का व्यक्तिगत जीवन

यह धारणा रही है कि उधम सिंह अविवाहित थे, लेकिन सिकंदर सिंह के अनुसार, फरवरी 1922 में अमेरिका के कैलिफोर्निया के क्लेरमॉन्ट में उनकी मुलाकात एक मैक्सिकन महिला, लूपे हर्नांडेज़, से हुई, जो सुंदर और बड़ी आँखों वाली थी। 1923 में उधम सिंह ने लूपे हर्नांडेज़ से विवाह किया। 1924 के जॉनसन-रीड (आव्रजन) अधिनियम के कारण, भारतीय पुरुषों को अमेरिका में हिस्पैनिक पत्नियों से विवाह करना पड़ता था, अन्यथा उन्हें निष्कासित कर दिया जाता था। उधम सिंह ने स्वयं एक बयान में स्वीकार किया कि उनके दो बेटे थे, जो क्लेरमॉन्ट के सैक्रामेंटो स्कूल में पढ़ते थे। इन बच्चों को स्कूल में ‘भारत के पुत्र’ (India’s Sons) के नाम से जाना जाता था। 1935 में उनकी पत्नी का देहांत हो गया, और उनके दोनों बेटों को लूपे के रिश्तेदारों ने एरिज़ोना ले जाकर

पाला। ब्रिटिश गुप्तचर रिपोर्ट के अनुसार, नवंबर 1936 में इंग्लैंड प्रवास के दौरान उधम सिंह ने एक श्वेत महिला से विवाह किया और वे दोनों लंदन के वेस्ट एंड में रहते थे। हालांकि, इस विवाह से उनकी कोई संतान होने की पुष्टि नहीं हुई।

सर माइकल ओ’ड्वायर की हत्या: 13 मार्च 1940

अनेक देशों की यात्रा करते हुए उधम सिंह 1934 में लंदन पहुँचने में सफल हुए। 1940 में, जलियाँवाला बाग हत्याकांड के 21 वर्ष बाद, उधम सिंह ने अपने मिशन को पूरा किया। लंदन में ईस्ट इंडिया एसोसिएशन और रॉयल सेंट्रल एशियन सोसाइटी द्वारा आयोजित एक सभा में, जिसमें अफगानिस्तान की स्थिति और मुस्लिम देशों पर चर्चा हो रही थी, उधम सिंह ने मौका पाया। सभा की अध्यक्षता भारतीय मामलों के सचिव लॉर्ड जेटलैंड कर रहे थे। सर माइकल ओ’ड्वायर (1913-1919 तक पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर) ने अपने भाषण में भारतीयों के लिए अपमानजनक शब्दों का उपयोग किया। उधम सिंह ने सभागार में तीन गज की दूरी से ओ’ड्वायर पर दो गोलियाँ दागीं, जिससे उनकी तत्काल मृत्यु हो गई। मंच पर मौजूद लुइस डेन, लॉरेंस, चार्ल्स सी. बैली, लॉर्ड जेटलैंड, और लॉर्ड लैमिंगटन को भी गोलियाँ लगीं, लेकिन वे बच गए। लॉर्ड लैमिंगटन का बायाँ हाथ घायल हुआ, और वे फर्श पर गिर पड़े।

उधम सिंह ने सभागार में तीन गज की दूरी से ओ’ड्वायर पर दो गोलियाँ दागीं, जिससे उनकी तत्काल मृत्यु हो गई। मंच पर मौजूद लुइस डेन, लॉरेंस, चार्ल्स सी. बैली, लॉर्ड जेटलैंड, और लॉर्ड लैमिंगटन को भी गोलियाँ लगीं, लेकिन वे बच गए।

मदनलाल ढींगरा और उधम : सर्जिकल स्ट्राइक के प्रतीक

शत्रु के देश (इंग्लैंड) में घुसकर हमला करने वाले पहले शहीद मदनलाल ढींगरा थे, और दूसरे उधम सिंह। दोनों को ‘सर्जिकल स्ट्राइक’ के सर्वोत्तम उदाहरण के रूप में जाना जाता है। मदनलाल ढींगरा को 17 अगस्त 1909 को भारतीय सचिव के राजनीतिक सलाहकार सर विलियम कर्जन वायली की हत्या के लिए इंग्लैंड में फाँसी दी गई थी। उधम सिंह को 31 जुलाई 1940 को पेंटनविले जेल में सर माइकल ओ’ड्वायर की हत्या के लिए फाँसी दी गई। दोनों ने अपने उद्देश्यों को विदेश में पूरा किया, लेकिन जीवित स्वदेश नहीं लौट सके। बाद में उनकी अस्थियों को भारत लाया गया। दोनों क्रांतिकारी भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सम्मानित चेहरे हैं, जिन्होंने ब्रिटिश शासन के खिलाफ आवाज़ उठाई और इतिहास को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

ओ’ड्वायर की हत्या पर प्रतिक्रियाएँ भारत में प्रतिक्रियाएँ:

महात्मा गांधी: 15 मार्च 1940 को ‘हरिजन’ समाचार पत्र में गांधी ने

इस हिंसक घटना पर गहरा दुख व्यक्त किया और इसे 'पागलपन' करार दिया। हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी की आलोचना के बाद, 23 मार्च 1940 के संस्करण में उन्होंने कहा कि उधम सिंह को 'बहादुरी के चिंतन का नशा' था।

जवाहरलाल नेहरू: 15 मार्च 1940 को 'नेशनल हेराल्ड' में नेहरू ने ओ'ड्वायर की हत्या पर दुख व्यक्त किया। लेकिन 1962 में 'दैनिक प्रताप' में प्रकाशित एक बयान में उन्होंने कहा, "मैं शहीद-ए-आज़म उधम सिंह को सम्मानपूर्वक नमन करता हूँ, क्योंकि उन्होंने फाँसी के फंदे को चूमकर हमें आज़ादी दिलाई।"

भारतीय समाचार पत्र: अमृतसर पत्रिका (कोलकाता) और 'द स्टेट्समैन' ने उधम सिंह के कार्य की प्रशंसा की। 18 मार्च 1940 के 'अमृत बाज़ार पत्रिका' ने लिखा, "माइकल ओ'ड्वायर का नाम उस घटना से जुड़ा है, जिसे कभी भुलाया नहीं जा सकता।" 14 मार्च 1940 को 'द ट्रिब्यून' (लाहौर) ने लिखा, "उधम सिंह ने वीरतापूर्वक कार्य किया।" भारत सरकार के गृह मंत्रालय की रिपोर्ट के अनुसार, ओ'ड्वायर की मृत्यु से भारतीयों को 'महान संतुष्टि' मिली, और उधम सिंह को 'स्वतंत्रता का योद्धा' माना गया।

ब्रिटिश प्रेस:

'डेली टेलीग्राफ' ने इस घटना को जलियाँवाला बाग (13 अप्रैल 1919) से जोड़ते हुए 'पुरानी, दुखद स्मृति' बताया। 'यॉर्कशायर पोस्ट' ने माना कि ओ'ड्वायर का नाम 'दर्दनाक यादें ताज़ा करता है।' हालाँकि, नरसंहार शब्द से परहेज किया गया। 'द टाइम्स' (लंदन) ने उधम सिंह को 'स्वतंत्रता का योद्धा' कहा।

धुरी राष्ट्रों (जर्मनी, इटली, जापान) में प्रेस:

मित्र देशों में उधम सिंह की आलोचना हुई, लेकिन धुरी राष्ट्रों में उनके शौर्य की प्रशंसा हुई। जर्मन रेडियो ने कहा, "भारतीय हाथियों की तरह अपने शत्रुओं को कभी माफ नहीं करते। वे 20 वर्ष बाद भी बदला ले सकते हैं।" रोम के 'बर्गेरेट' ने इस घटना को 'महान महत्वपूर्ण' और उधम सिंह के कार्य को 'साहसपूर्ण' बताया। 'बर्लिनर बोर्सन ज़ैitung' ने इसे 'भारतीय स्वतंत्रता की मिसाल' कहा।

सेंट्रल क्रिमिनल कोर्ट, ओल्ड बेली में मुकदमा और फाँसी

उधम सिंह पर सेंट्रल क्रिमिनल कोर्ट, ओल्ड बेली में मुकदमा चला। उनके वकील वी.के. कृष्ण मेनन ने कहा कि उधम सिंह का हत्या का इरादा नहीं था, लेकिन उधम सिंह ने वकील को फटकारते हुए कहा, "मेरा वकील मेरी जान बचाने के लिए झूठ बोल रहा है। क्रांतिकारियों की परंपरा बहाने बनाना नहीं है। मैं अपने बलिदान से इंकलाब की ज्योति प्रज्वलित करना चाहता हूँ।" उन्होंने आगे कहा, "जलियाँवाला बाग हत्याकांड के दिन मैंने प्रतिज्ञा की थी कि मैं इसका बदला लूँगा। मुझे प्रसन्नता है कि 21 वर्ष बाद

मैंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।" 31 जुलाई 1940 को उधम सिंह को पेंटनविले जेल में फाँसी दे दी गई।

उधम सिंह का चिंतन: सपनों का भावी भारत

उधम सिंह को केवल एक राष्ट्रवादी या बदला लेने वाला शेर मानना उनके विचारों को सीमित करना होगा। उनके राजनीतिक विचार समाजवाद, मार्क्सवाद-लेनिनवाद, बोल्शेविज़्म, और गदर आंदोलन के क्रांतिकारी आदर्शों से प्रेरित थे। उनका उद्देश्य केवल ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति नहीं था, बल्कि स्वतंत्र भारत में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, और शैक्षिक परिवर्तन लाना था। वे हिंदू, मुस्लिम, और सिख एकता, गरीबी, अज्ञानता, और अशिक्षा के उन्मूलन के पक्षधर थे।

15 जुलाई 1940 को पेंटनविले जेल से लिखे पत्र में उधम सिंह ने अपने सपनों का भारत वर्णित किया: "हमारा महान कर्तव्य है देश से अंग्रेजों को बाहर निकालना, फिर हिंदू, मुस्लिम, और सिख एकता स्थापित करना। भुखमरी, अज्ञानता, और बीमारियों को जड़ से खत्म करना। जनता को न्याय, किसानों और मजदूरों को पेट भर भोजन, विद्यार्थियों के लिए अच्छे स्कूल-कॉलेज, और बच्चों-वृद्धों के लिए क्रीडास्थल और उद्यान हों। मेरी इच्छा है कि लोग शादी-विवाह की शान-शौकत के बजाय उच्च शिक्षा पर खर्च करें। मुझे विश्वास है कि आप इन मूल्यों को अपनाएँगे। मेरा देश उन्नत हो।"

क्रांति के प्रति समर्पण

उधम सिंह क्रांति को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे। अपने अदालती बयान में उन्होंने कहा: "मैंने भारत में अंग्रेजी साम्राज्य के नीचे लोगों को तड़प-तड़पकर मरते देखा। मैंने जो किया, वह विरोध था, मेरा धर्म और कर्तव्य था। मुझे इसकी कोई चिंता नहीं कि मुझे कितना दंड मिलेगा—10, 20, या 60 वर्ष का कारावास या फाँसी। मैं किसी निर्दोष को मारना नहीं चाहता था, केवल विरोध करना चाहता था।" 30 मार्च 1940 को अपने मित्र सिंह को लिखे पत्र में उन्होंने कहा: "मुझे मौत का डर नहीं। मैं हर हाल में तैयार हूँ। मैं शीघ्र ही मौत से शादी करने वाला हूँ। मुझे कोई अफसोस नहीं।"

उधम सिंह का चिंतन आज भी प्रासंगिक

उधम सिंह और अन्य क्रांतिकारियों का लक्ष्य केवल राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं था, बल्कि एक ऐसा भारत था जिसमें भुखमरी, गरीबी, बेरोज़गारी, अशिक्षा, और सामाजिक-आर्थिक असमानता न हो। आज भी भारत में गरीबी, महँगाई, बेरोज़गारी, अशिक्षा, आर्थिक शोषण, सामाजिक असमानता, राजनीतिक अपराधीकरण, संप्रदायवाद, जातीय भेदभाव, दलित-आदिवासी शोषण, और महिलाओं पर अत्याचार जैसी समस्याएँ बनी हुई हैं। ये सभी उधम सिंह के चिंतन के विरुद्ध हैं। इसलिए, उनका विचार और बलिदान आज भी प्रासंगिक और प्रेरणादायक है।



गांधी, आंबेडकर, टैगोर और हिंदी



विनय जयहिंद

स्तालिन ने एक बार कहा था, “भाषा एक माध्यम है, औजार है जिसके जरिए एक-दूसरे का विचार विनिमय होता है। वहीं डॉ. आंबेडकर ने इससे एक कदम आगे बढ़कर कहा था. “अगर आपके पास भाषा है तो आपके पास सांस्कृतिक विरासत भी होती है, जिसका अपना अतीत और भविष्य होता है।” चूंकि भाषा से ही राष्ट्रीयता की भावना का विकास होता है. इसलिए उन्होंने बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही थी। उनके विचार में आज वक्त का सबसे बड़ा तकाजा यह है कि जनता जनार्दन के मन में एक साझी राष्ट्रीयता की भावना पैदा की जाए। मुझे अच्छा नहीं लगता, जैसाकि कुछ लोग कहते हैं कि हम हिंदू या मुसलमान पहले हैं, भारतीय बाद में हैं। यह भावना बिल्कुल नहीं चलेगी कि पहले वे हिंदू, मुसलमान या सिंधी आदि हैं और बाद में भारतीय। मैं चाहता हूँ कि समस्त लोग पहले भी भारतीय हों और बाद में भी भारतीय हों तथा भारतीय के सिवाय कुछ भी नहीं हो।

यह बात डॉ. आंबेडकर ने प्रांतों के क्षेत्र के पुनर्वितरण के संदर्भ में कही थी। जिसका हवाला हमें बांबे लेजिस्लेटिव असंबली डिबेट्स (खंड 3) 4 अप्रैल,

1938 के माध्यम से मिलता है। असल में उस समय बंबई प्रेसिडेंसी का क्षेत्रफल लगभग 1,223.541 वर्ग मील था। इसे चार भाषाई खंडों में बांटने का सिलसिला शुरू हो गया था। वे खंड या क्षेत्र इस तरह थे महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक और सिंध। इन खंडों के लोग लगभग एक सौ दस वर्षों से बंबई प्रेसिडेंसी के अंग रहे और एक ही प्रशासन के अधीन एक-दूसरे से जुड़े रहे। बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर के विचार में 'एक भाषा एक प्रांत' का सिद्धांत इतना बड़ा था कि इसे व्यावहारिक रूप से लागू नहीं किया जा सकता था।

प्रांतों के क्षेत्र के पुनर्वितरण के बारे में हिंदुओं और मुसलमानों का एक प्रतिनिधि मंडल भारतमंत्री (वायस-राय) मोन्टेग्यू से 1920 के आसपास मिला था।

राष्ट्रभाषा हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के इतिहास और उनसे महापुरुषों के संबंधों का जब हम अध्ययन करते हैं तो हम पाते हैं कि लगभग सभी महापुरुषों का हिंदी से न केवल भावनात्मक लगाव था बल्कि उसकी अस्मिता और पहचान के बारे में ऐसे राष्ट्र पुरुष हमेशा जागरूक रहते थे।

गांधीजी ने 1905 में भाषा और जनता के साथ उसके स्वभाव की बात कही थी। 1905 में बंगाल का विभाजन हुआ। इस तरह भाषाई आधार पर जातीय एकीकरण की समस्या प्रमुख राजनैतिक समस्या के रूप में सारे भारत के सामने आई। गांधीजी ने गुजरात के लोगों को अपनी भाषा और इतिहास पर गर्व करना सिखाया। इसी तरह वह दूसरे लोगों को भी अपनी भाषा और जातीयता पर अभिमान करना सिखाते थे। भारत की सबसे बड़ी भाषाई जाति हिंदी प्रदेश में रहती है ऐसा रामविलास शर्मा अपने आलेखों में उल्लेख करते रहे हैं। गांधीजी हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाना चाहते थे। वे अधिकांश प्रांतों में एक ही भाषा बोली जाए, ऐसी आशा करते थे जबकि आंबेडकर प्रांतीय भाषाओं को फलने-फूलने के साथ हिंदी को राष्ट्र की भाषा के रूप में देखते थे।

मार्च 1918 में गांधीजी ने कहा “आज भी हिंदी से स्पर्धा करने वाली कोई दूसरी भाषा नहीं है। हिंदी-उर्दू का झगड़ा छोड़ने से राष्ट्रीय भाषा का सवाल सरल हो जाता जाए। इस है। अंग्रेजी भाषा का मोह दूर करने के लिए इतना अधिक परिश्रम करना पड़ेगा कि हमें लाजिम है कि हम हिंदी-उर्दू का झगड़ा न उठाएं। लिपि की तकरार भी हमें नहीं करनी चाहिए।” उन्होंने कहा, “एक तो जहां हिंदी मातृभाषा है। वहां उसका विकास करें। दूसरे, जहां हिंदी नहीं बोली जाती, वहां उसका प्रचार करें। तीसरे, देवनागरी लिपि का प्रचार किया दृष्टि से बांग्ला भाषा के अच्छे से अच्छे ग्रंथ देवनागरी लिपि में और हिंदी में शब्दार्थों सहित प्रकाशित किए जाएं। यह हिंदी सीखने का आसान से आसान रास्ता है। इस कार्य को यदि मारवाड़ी, गुजराती और अन्य धनिक वर्ग तथा साक्षर वर्ग के लोग अपने हाथ में ले लें तो थोड़े समय में बहुत सुंदर कार्य हो सकता है।

देखा गया है कि हिंदी भाषा की रक्षा करने में हिंदी प्रदेश के जन साधारण ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जिन्हें लोग भैया कहते हैं, मेहनत-मजदूरी करने वे मुंबई, अहमदाबाद या कोलकाता जाते हैं, ऐसे अपढ़ मजदूर जब सेठ, साहूकारों तथा मालिकों के साथ अन्य से हिंदी में बातें करते हैं तो उनकी सहज भाषा न केवल अलग-अलग प्रदेशों की भाषा संस्कृति में घुल-मिल जाती है बल्कि उस घुली-मिली भाषा में जीवन का रस आने लगता है। गांधीजी ने इस पर विस्तार से लिखा है।

गांधीजी इस तरफ भी संकेत करते हैं कि हिंदी प्रदेश के बुद्धिजीवियों में अंग्रेजी की जड़ मजबूती से जमी हुई थी। उनमें अंग्रेजी-प्रेम अधिक था, हिंदी-प्रेम बहुत कम। जबकि बांग्लाभाषियों ने हिंदी के प्रचार-प्रसार में विशेष सहयोग किया। उन्होंने हिंदी में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन कर एक

ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया जिससे अन्य गैर हिंदी भाषियों को भी प्रेरणा मिली। यह सब इसलिए हुआ क्योंकि उन दिनों देशभर में हिंदुस्तानी आंदोलन चल रहा था। आवागमन के साधन का विकास हो गया था। देशप्रेमी और क्रांतिकारी एक प्रदेश से इन राज्यों में आ-जा रहे थे। उनके बीच भाषा के आधार पर कोई मतभेद न था। वे स्वयं बातचीत के लिए सहज और सरल भाषा चाहते थे जिससे राष्ट्रीय तथा सामाजिक गतिविधियों में भाग ले सकें।

उत्ता-पूर्व राज्यों में

हिंदी के प्रचार कार्य को गति देने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान महात्मा गांधी का ही माना जाता है। गांधीजी के प्रयत्नों से हिंदी के प्रसार कार्य का विधिवत् प्रारंभ यद्यपि सन् 1918 ई. में हुआ तथापि असम में इसका प्रारंभबाबा राघवदास ने किया।

असम में सन् 1934 ई. के पूर्व ही भुवन चंद्र गौरी ने स्वप्रेरणा से हिंदी प्रचार का कार्य आरंभ किया था। स्वदेश-प्रेम स्वदेशी शिक्षा और स्वावलंबन ही उनके आदर्श थे। इस प्रकार असम में पहली बार हिंदी प्रचार कार्य का अध्यापन की विधिवत् शुरुआत है। परिणाम-स्वरूप शिवसागर में हिंदी प्रचार का ऐसा वातावरण बना था कि केवल स्कूलों में छात्र-छात्राएं ही नहीं, बड़े-बड़े तक हिंदी चों में आया करते थे। वर्धा समिति का परीक्षा केंद्र भी असम में पहली बार यहीं स्थापित हुआ था। आरंभ में केंद्र के व्यवस्थापक विद्यालय के प्रधानाध्यापक इंद्रेश्वर सुतिया थे। बाद में यह दायित्व स्वयं भुवन चंद्र गौरी ने मभाल लिया था। हिंदी प्रचार की अखिल भारतीय योजना के अनुसार जब सन् 1934 ई. में बाबा राघवदास असम में

पहली बार आए तो उन्होंने भी वहां अपना निवास बनाया था।

गांधी की प्रेरणा से 1934 में अपने परमहंसानंत आश्रम बरहज (उत्तर प्रदेश) से हिंदी के प्रचार कार्य हेतु बाबा राघवदास ने असम की यात्रा की।

सन् 1938 ई. के अंतिम भाग में वर्धा समिति ने असम में प्रचार कार्य की देख-रेख और उसे गति प्रदान करने के लिए 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' के कार्यकर्ता यमुना प्रसाद श्रीवास्तव को संचालक बनाकर यहां भेजा। उन्नही के साथ बाबा राघवदास ने एक बार पुनः असम की यात्रा की एवं प्रचार कार्य को व्यवस्थित करने की दृष्टि से हो सन् 1938 ई. के 3 नवंबर को गुवाहाटी में 'असम हिंदी प्रचार समिति' की स्थापना की गई। इस समिति के प्रतिष्ठाता अध्यक्ष थे लोकप्रिय गोपीनाथ वरदलै। उन्हीं की अध्यक्षता में 11 दिसंबर, 1938 ई. को इस समिति की पहली बैठक काटन

गांधी की प्रेरणा से 1934 में अपने परमहंसानंत आश्रम बरहज (उत्तर प्रदेश) से हिंदी के प्रचार कार्य हेतु बाबा राघवदास ने असम की यात्रा की। सन् 1938 ई. के अंतिम भाग में वर्धा समिति ने असम में प्रचार कार्य की देख-रेख और उसे गति प्रदान करने के लिए 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' के कार्यकर्ता यमुना प्रसाद श्रीवास्तव को संचालक बनाकर यहां भेजा।



कॉलेज, गुवाहाटी में हुई थी, जिसमें बाबा राघवदास और यमुना प्रसाद श्रीवास्तव के अतिरिक्त रमेश चंद्र, बी.के. भंडारी, नीलमणि फुकन, आर.डी. शाही, देवकांत बरुवा जैसे व्यक्ति भी उपस्थित थे।

समिति की दूसरी बैठक में काका कालेलकर के प्रस्तावानुसार 'असम हिंदी प्रचार समिति' का नाम परिवर्तित कर 'असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' रखा गया। 'असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' प्रारंभिक वर्षों में वर्धा की समिति द्वारा नियंत्रित थी, पर सन् 1942 ई में इसे पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त हुई। लोकप्रिय गांधीनाथ बरदले ने महात्मा गांधी के आदर्शों को स्वीकार करते हुए घोषणा की. 'असम राष्ट्रभाषा प्रचार समिति गांधीजी के आदर्शों पर चलने वाली संस्था है।' स्वयं महात्मा गांधी ने भी सन् 1945 ई. में असम की यात्रा की। राज्य सरकार ने समिति के वार्षिक अनुवर्तक के वित्तीय अनुदान में वर्ष की किसी भी भाषा तथा साहित्य से गांधीजी को कितनी गहरी दिलचस्पी थी, याह इस बात से जाना जा सकता है कि गुजराती साहित्य परिषद् के अधिवेशन में भाग लेने के लिए उन्होंने रवींद्रनाथ ठाकुर को आमंत्रित किया। उस समय गांधीजी ने लिखा था, "उनका आगमन छोटी-मोटी बात नहीं कही जा सकती। वह राजनैतिक पुरुष नहीं, महाकवि हैं। उनकी जोड़ का कोई और व्यक्ति हिंदुस्तान में तो नहीं ही है।... वे जैसे कवि हैं वैसे ही तत्वज्ञानी और आस्थावान व्यक्ति हैं। वे भाषाओं के तत्वों को भी अच्छी तरह से जानते हैं।"

कलकत्ते के राष्ट्रीय पुस्तकालय की सीढ़ियां पार करते ही प्रवेश द्वार पर स्थापित प्रिंस द्वारिकानाथ की मूर्ति इस संस्था को दिए गए उनके योगदान की स्वीकृति है। भारत में आधुनिक शिक्षा के पहले केंद्र हिंदू कॉलेज की स्थापना में भी उनका भरपूर योगदान था जिसका नाम बाद में प्रेसीडेंसी कॉलेज कर दिया गया था। सन् 1874 में एशिया के इतिहास, कला, साहित्य व पुरातत्त्व की गवेषणा के लिए सर विलियम जोन्स ने जिस एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की स्थापना की थी, द्वारिकानाथ टैगोर उसके प्रथम भारतीय अध्यक्ष थे। आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया कलकत्ते का प्रसिद्ध इंडियन म्यूजियम जैसी अनेक प्रमुख वैज्ञानिक संस्थाओं का श्रेय इस सोसाइटी को है।

अगस्त 1846 को इंग्लैंड में ही उनका निधन हुआ। उनके ज्येष्ठ पुत्र व रवींद्रनाथ के पिता देवेन्द्रनाथ टैगोर भी उन्हीं की तरह निराले व्यक्ति थे।

रवींद्रनाथ टैगोर अपने पिता और मां शारदा देवी की चौदहवीं संतान थे। अपने बाबा और पिता की ही भांति रवींद्रनाथ टैगोर का व्यक्तित्व भी असाधारण व अद्वितीय था। किशोरावस्था में ही उनके अंदर साहित्यिक क्षमता का विकास प्रारंभ हो गया था।

1915 में गांधी की पहली बार टैगोर से शांति निकेतन में ही भेंट हुई थी, जब वे दक्षिण अफ्रीका में अपना संग्राम जीतकर लौटे थे। वे दक्षिण अफ्रीका में अपना स्कूल और फीनिक्स कॉलोनी भंग कर चुके थे तथा

एंड्रुज के सुझाव पर उन्होंने बच्चों को शांति निकेतन भेज दिया था। वे शांति निकेतन में उन बच्चों से मिलने आए थे तब टैगोर से पहली बार मिले। दोनों ने एक-दूसरे को गहराई तक प्रभावित किया।

गांधीजी ने दलित अफ्रीका में गोखले के स्वागत की जैसी तैयारी की थी। कुछ कुछ वैसी ही तैयारी वह गुजरात में रवींद्रनाथजी के स्वागत की कर रहे थे। उन्होंने गुजरातियों से कहा, “मेरी कामना है कि गुजरात के लोग उन्हें उचित सम्मान दें। हम रास्तों को अलंकृत करें तो उस पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव न होकर पूर्व की सभ्यता का प्रभाव होना चाहिए।” फिर रवींद्रनाथ के कला-प्रेम का स्मरण करते हुए गांधीजी ने लिखा, “वे अच्छे कवि होने के साथ ही चित्रकला और संगीत के भी पारखी हैं। इसलिए हम उनके प्रति अपना जो भाव प्रकट करना चाहें, वह शांतिमय, कलापूर्ण और सब प्रकार के आडंबरों, भावावेश से रहित एवं शुद्ध होना चाहिए।”

अहमदाबाद में जिस तरह उनका स्वागत हुआ उसके लिए गुजरात के लोगों को धन्यवाद देना चाहिए। रवींद्रनाथ ने कलकत्ते को लक्ष्य करके पूंजीवादी सभ्यता की आलोचना की थी। अहमदाबाद भी पूंजीवादी उद्योग-धंधों का बड़ा केंद्र था। गांधीजी ने कहा, “उन्होंने आधुनिक सभ्यता की उपज के रूप में कलकत्ते का जो उल्लेख किया वह उनकी सहज शिष्टता और विजयशीलता का सुंदर नमूना है। गुजरात में गांधीजी तथा उनके अनुयाई न गुजराती में बोले होंगे और न ही रवींद्रनाथजी ने बंगाली में कुछ कहा होगा बल्कि उनके साथ रवींद्रनाथ टैगोर का वार्तालाप हिंदी में ही हुआ होगा।”

1925 में गांधी फिर शांति निकेतन आए थे तथा टैगोर के समक्ष उन्होंने अपना यह मत फिर दोहराया कि स्वराज का पथ चरखा व खादी से ही निकलेगा।

गांधीजी को समकालीन गुजराती साहित्य की प्रगति से संतोष नहीं था। उन्होंने कला की कसौटी पर साहित्य को परखने पर जोर दिया, “यदि में किसी साहित्यकार की रचना से उकता जाता हूँ तो इसमें मेरी बुद्धि का दोष नहीं है। दोष उसकी कला का है। शक्तिवान साहित्यकार को अपनी कला को कम से कम इतना विकसित तो करना ही चाहिए कि पाठक उसे पढ़ने में लीन हो जाए।

यह बात इतिहास में बखूबी दर्ज है कि बंग-भंग के समय जब स्वदेशी का जोश उमड़ रहा था, तब बंगाल में बांग्ला के जरिए शिक्षा देने का प्रयत्न किया गया। राष्ट्रीय पाठशाला की स्थापना हुई पर सब बेकार गया। इसका अर्थ यह कि बंगाल के बुद्धिजीवियों पर अंग्रेजों का प्रभाव बहुत ज्यादा था। बंगाल में शिक्षित वर्ग को अंग्रेजी से बड़ा मोह रहा। इसी तरह से बंगाल का नवजागरण भी अंग्रेजी भाषा और साहित्य से प्रभावित था। रवींद्रनाथ टैगोर

जैसे महान लेखक उसी की देन हैं। यहां गांधीजी इस बात कर खंडन करते हुए कहते हैं, “यह कहा गया है कि बांग्ला साहित्य ने जो प्रगति की है। उसका कारण बंगालियों का अंग्रेजी भाषा और साहित्य पर अधिकार है लेकिन तथ्य इस तर्क के विरुद्ध है। रवींद्रनाथ टैगोर की चमत्कारिक बांग्ला अंग्रेजी की ऋणी नहीं है। उनके भाषा चमत्कार के पीछे उनका स्वभाषा विषयक अभियान है। 'गीतांजलि' पहले बांग्ला भाषा में ही लिखी गई थी। जब गांधीजी हिंदी या हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग भाषा के लिए करते हैं, तब उनका आशय भारत की समस्त भाषाओं से नहीं होता, वरन् भारत की एक भाषा से होता है। भारत की सभी भाषाएं हिंदुस्तानी नहीं हैं। हिंदुस्तानी विशेष भाषा है। इसी को गांधीजी राष्ट्रभाषा कहते थे। उन्होंने लिखा भी है. “मेरा यह आग्रह पहले से था कि हमें या तो मातृभाषा में

बोलना चाहिए या राष्ट्र भाषा हिंदुस्तानी में। सच कहा जाए तो गांधी, आंबेडकर और रवींद्रनाथ भाषा के प्रति बहुत सजग रहते थे। हालांकि अंग्रेजी से उनका कोई खैर नहीं था। वे अंग्रेजी में भी पढ़ते-लिखते थे, पर देशवासियों को परस्पर संवाद के लिए हिंदी भाषा के महत्व को बताते थे वे जहां भी रहे। वहीं उन्होंने राष्ट्रभाषा के महत्व की बात की। लोगों को अपनी भाषा का महत्व बताया। उन्हें जाग्रत किया।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो 14 अगस्त, 1931 को आंबेडकर की अन्य साथियों के साथ बंबई स्थित मणि भवन में गांधीजी से मुलाकात हुई। संभवतः यह उनकी पहली मुलाकात थी। दूसरी मुलाकात अगस्त 1932 को पृथक निर्वाचन मंडल के विषय पर लंदन में आयोजित दूसरे गोलमेज सम्मेलन में हुई। हालांकि इसे मुलाकात कम और मुठभेड़ अधिक कहा जाता है।

28 सितंबर, 1931 को गांधीजी के पुत्र देवदास गांधी द्वारा डॉ. आंबेडकर और गांधी के मध्य सरोजिनी नायडू के लंदन के निवास पर मुलाकात हुई क्योंकि सरोजिनी नायडू तथा मालवीय आदि गांधीजी के साथ लंदन गए थे। जो बातें सम्मेलन के स्थान यानी जेम्स महल में नहीं हो सकती थी, उसके लिए शाम को अलग से इसका प्रबंध किया गया था।

19 अक्टूबर, 1932 को सावंतवादी में एक मुकदमे की पैरवी के लिए जाते हुए आंबेडकर ने गांधी से यरवदा में मुलाकात की। इसके बाद आंबेडकर 24 सितंबर, 1932 को पुनः गांधीजी से यरवदा जेल में पूना पैक्ट के बारे में मिले। इसके बावजूद वे गांधीजी द्वारा देश को स्वाधीन कराने के लिए किए जा रहे प्रयास के प्रति श्रद्धा व सराहना का भाव रखते थे। ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेमसे मैकडोनाल्ड द्वारा दिए गए 'कम्यूनल अवार्ड' के विरोध में जब गांधीजी ने 20 सितंबर, 1932 को जेल में आमरण

जब गांधीजी हिंदी या हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग भाषा के लिए करते हैं, तब उनका आशय भारत की समस्त भाषाओं से नहीं होता, वरन् भारत की एक भाषा से होता है। भारत की सभी भाषाएं हिंदुस्तानी नहीं हैं। हिंदुस्तानी विशेष भाषा है। इसी को गांधीजी राष्ट्रभाषा कहते थे।

अनशन की घोषणा की, तो टैगोर ने उनका अखंडता के लिए अनमोल जीवन की बलि चढ़ाना सर्वथा उचित नहीं है।" वे 24 सितंबर को गांधीजी से मिलने यरवदा जेल के लिए चल पड़े तथा ब्रिटिश सरकार द्वारा गांधीजी की मांग मान लेने के कारण 26 सितंबर को टैगोर को उपस्थिति में ही गांधीजी ने अपना अनशन तोड़ा और अनशन तोड़ने से पूर्व टैगोर ने 'गीतांजलि' का एक भजन बांग्ला में गाया।

संभवतः यह देश की दो महान शख्सियतों की अंतिम मुलाकात थी। जाहिर है इन मुलाकातों में उनके बीच बातचीत का माध्यम हिंदी भाषा ही रहा होगा। देखा जाए तो मराठी भाषी होने के बावजूद आंबेडकर को अंग्रेजी के साथ हिंदी का भी व्यावहारिक ज्ञान था। 15 अगस्त, 1936 को उन्होंने स्वतंत्र मजदूर पार्टी बनाई जिसे वे 'कामगारों की पार्टी' कहा करते थे। 17 फरवरी, 1937 को जब बंबई विधान सभा के चुनाव हुए तो आंबेडकर सहित कनिष्ठ सदन में 14 और उच्च सदन में 2 सदस्यों का चयन हुआ था। चूंकि बंबई के कारखानों में पूरे देश से मजदूर काम करने आते थे, जिनमें हिंदी भाषी बहुतायत में होते थे, इसलिए उनसे बातचीत होने के कारण वे अच्छी तरह से हिंदी बोलने लगे थे। बहुत कम लोगों को मालूम है कि आरंभिक दिनों में उन्हें संस्कृत पढ़ने नहीं दी गई थी जबकि हिंदू धर्म ग्रंथों को पढ़ना वे जरूरी समझते थे। अतः उन्होंने जर्मनी भाषा के माध्यम से संस्कृत सीखी थी। बाद के दौर में (27 जुलाई, 1942 को श्रममंत्री बनने के अवसर पर) जब वे दिल्ली आए तो उत्तरी भारत के लोगों से उनके संवाद स्थापित हुए। उन्हीं में डॉ. सोहनलाल शास्त्री भी थे, जिनकी मदद से डॉ. आंबेडकर ने न सिर्फ हिंदी बल्कि पुनः संस्कृत का ज्ञान भी प्राप्त किया। 1940 की फरवरी में गांधीजी कस्तूरबा के साथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन आए थे और तब टैगोर ने गांधीजी से 'विश्वभारती' को अपनी छत्रछाया में लेने का आग्रह किया था। हमेशा की तरह गांधीजी ने बहुत विनम्रता से कहा था कि "इसे तो प्रभु का संरक्षण मिला है, क्योंकि यह एक निष्ठावान आत्मा की सृष्टि है। जहां तक आर्थिक पक्ष की बात है, गुरुदेव को उसके भविष्य की सभी चिंताओं से मुक्त करना हमारा कर्तव्य है।" गांधीजी की टैगोर से यह अंतिम भेंट थी। इस भेंट में दिए गए वचन को उन्होंने पूरा किया। उनको मृत्यु के पश्चात् स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय सरकार ने राष्ट्र द्वारा मान्य विश्वविद्यालय के रूप में 'विश्वभारती' के संचालन का संपूर्ण आर्थिक दायित्व अपने ऊपर ले लिया। जवाहरलाल नेहरू ने इसका आचार्य पद ग्रहण किया, जो सर्वथा उचित था, क्योंकि उनके व्यक्तित्व में एक प्रकार से इन दोनों महापुरुषों के न्यूनाधिक गुणों का समावेश था। 7 अगस्त, 1941 की दोपहर में टैगोर का देहावसान हो गया। उनके निधन पर गांधीजी ने लिखा था, "शायद ही कोई ऐसा सार्वजनिक कार्य हो, जिस पर उन्होंने अपने प्रबल व्यक्तित्व की छाप न छोड़ी हो।"

रवींद्रनाथ टैगोर के भीतर बंगाली भाषा और संस्कृति के प्रति बहुत ही अनुराग था। आरंभिक दौर में बंगाली भाषा के अलावा वे अंग्रेजी को ही स्वीकार करते थे। अंग्रेजी भाषा को स्वीकार करने का कारण उनके

परिवार का 'रायल' होना भी था। हालांकि वे स्वयं अपने दादाजी द्वारिकानाथ टैगोर की अंग्रेजी सरपरस्ती को पसंद नहीं करते थे। बाद के दौर में जब उनकी मुलाकात गांधीजी से बार-बार होती गई तो हिंदी भाषा के प्रति उनके भीतर से अपनत्व जागा। दूसरा कारण 'विश्वभारती' का भी था। वह इसलिए कि 'विश्वभारती' में अध्ययन के लिए देशभर से विद्यार्थी तथा शोधार्थी आते थे जिनसे वे समय निकालकर मिलते भी थे। इनमें हिंदीभाषी बड़ी संख्या में होते थे। बाद में तो विश्वभारती विश्वविद्यालय में हिंदी विषय में पढ़ाई भी होने की शुरुआत होने लगी।

राजभाषा हिंदी के लिए डॉ. आंबेडकर द्वारा किए गए संवैधानिक प्रावधान

संविधान के अनुच्छेद 343 (1) के अनुसार संघ की राजभाषा देवनागरी लिपि में लिखित हिंदी है। इसी प्रकार संविधान के अनुच्छेद 343 (2) के अनुसार यह प्रावधान किया गया है कि संविधान के प्रारंभ से 26 जनवरी, 1965 तक सभी राजकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी का यथावत् प्रयोग होता रहेगा। अंग्रेजी भाषा में लंबे समय से काम-काज करने कराने वाले प्रशासकों, कर्मचारियों आदि के नए भाषा माध्यम हिंदी को अपनाने के लिए पर्याप्त समय देना उचित समझा गया। यहां पर भारत के राष्ट्रपति को यह अधिकार के लिए हिंदी भाषा एवं भारतीय अंकों के प्रयोग को प्राधिकृत कर सकेंगे। भी दिया कि वे पंद्रह वर्षों की कालावधि में संघ के किसी राजकीय प्रयोजन संविधान के अनुच्छेद 345 में यह प्रावधान है कि राज्य का विधानमंडल विधि द्वारा एक या एकाधिक प्रादेशिक भाषाओं अथवा हिंदी को सरकारी प्रयोजनों के लिए स्वीकार कर सकेगा। अनुच्छेद 346 में यह साफ-साफ आदेश है कि एक राज्य तथा दूसरे राज्य के बीच तथा किसी राज्य एवं संघ मध्य पत्राचार में संघ की राजभाषा का ही प्रयोग होगा। अनुच्छेद 346 के अनुसार यदि किसी राज्य के अभिज्ञात करना चाहे तो राष्ट्रपति उस भाषा को सरकारी अभिज्ञा देने का अधिकारी है।

संविधान के अनुच्छेद 348 में उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों इत्यादि को भाषा का भी प्रावधान है। इस अनुच्छेद के अनुसार जब तक संसद विधि द्वारा अन्यथा उपबंध न करे तब तक विधेयकों, अधिनियमों, अध्यादेशों एवं आदेशों तथा नियमों-विनियमों के प्राधिकृत पाठ अंग्रेजी में ही होंगे। संविधान के अनुच्छेद 349 में यह व्यवस्था है कि संविधान के शुरू के पंद्रह वर्षों की कालावधि तक अंग्रेजी के स्थान पर किसी अन्य भाषा का पाठ प्राधिकृत पाठ नहीं माना जाएगा किंतु किसी अन्य भाषा के प्राधिकृत पाठ के लिए राष्ट्रपति भाषा आयोग की संस्तुतियों एवं संसदीय समिति की प्रतिवेदन पर विचार करने के बाद अपनी स्वीकृति दे सकते हैं। संविधान के अनुच्छेद 350 के अनुसार कोई व्यक्ति अपनी शिकायत के समाधान के लिए संघ या सबद्ध राज्य में प्रयुक्त होने वाली किसी भी भाषा में आवेदन कर सकता है। इस व्यवस्था में भाषाई अल्पसंख्यकों के अधिकार पूरी तरह सुरक्षित किए गए हैं।

संविधान का अनुच्छेद 351 अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार संघ

सरकार का यह कर्तव्य है कि यह हिंदी को एक ऐसी सर्वमान्य राष्ट्रीय भाषा के रूप में विकसित करे जिसका पूरे राष्ट्र में गर्व सहित प्रयोग किया जा सके और वह भारत की मिश्रित संस्कृति के सभी तत्वों को अभिव्यक्त कर सके। इसके लिए हिंदी में अन्य भारतीय भाषाओं के शब्दों को ग्रहण कर उसे समृद्ध किए जाने का भी सुझाव है।

जाहिर है आजादी के बाद देश में न केवल भाषा संबंधी क्षेत्र में विकास हुआ है बल्कि सांस्कृतिक गतिविधियां भी तेजी के साथ बढ़ी हैं। किसी भी देश में राष्ट्रीय भाषा के प्रचार-प्रसार में मुख्यतः दो स्थितियां उत्प्रेरक का कार्य करती हैं। पहली व्यवसाय की तलाश और दूसरी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक संबंधों की लालसा। विश्व के किसी भी छोर पर मानव समाज के बीच यह दो बातें अवश्य ही मिलेंगी। वह देश चाहे किसी भी धर्म को मानता रहा हो या किसी भी राजनैतिक विचारधारा से सहमत हो। सच कहा जाए तो संपूर्ण मानवीय संबंधों का आधार यही है।

कुछ भारतीयों ने प्रशासन की भाषा अंग्रेजी को ही बनाए रखा। उनके लिए हिंदी अभी भी गुलामों, अनपढ़ों तथा आम लोगों की भाषा थी। हालांकि भारतीय सिविल सेवा का नाम बदलकर भारतीय प्रशासनिक सेवा हो गया था लेकिन अंग्रेजी मानसिकता धीरे-धीरे ही उनके भीतर से खत्म हुई। वर्ना बड़ी मुश्किल से बीसवीं शताब्दी के अंत होते-होते आई.ए. एस. संघ लोक सेवा आयोग द्वारा संचालित परीक्षा में हिंदी को अनिवार्य कराया जा सका था। वैसे यह कार्य आजादी के पहले दशक के पहले वर्ष में ही हो जाना चाहिए था। मैटकाफ के शब्दों में एक क्रांति के बाद दूसरी क्रांति होती है।

भारत में पहले राजनैतिक क्रांति हुई फिर सामाजिक क्रांति और बाद में भाषाई क्रांति। आज के दौर में हम इन दिनों क्रांतियों की उपलब्धियों के दौर से गुजर रहे हैं। आज कोई यह महसूस नहीं करता कि हिंदी गवारों की भाषा है। आम आदमी के साथ खास आदमी हिंदी भाषा के माध्यम से समन्वय स्थापित उसकी अपनी कोई अस्मिता नहीं है। सहजता से लोग इसे स्वीकार कर रहे हैं। करना सीख रहे हैं। भले ही उन्हें एक कदम नीचे उतरकर आना पड़ा हो।

ज्ञान और प्रौद्योगिकी क्षेत्र में भी हिंदी का दबाव बढ़ा है और अंग्रेजी का कम हुआ है। चलचित्र और दूरदर्शन ने तो हिंदी को संपर्क भाषा बनाने में बहुत मदद की है। और कंप्यूटर के आविष्कार तथा माध्यम ने तो भाषाई क्रांति में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। अब कानून की भाषा हिंदी को बनाने में कोई समस्या नहीं है। इसलिए कि हिंदी के प्रति लोगों को रुचि बढ़ती जा रही है। आज संपर्क भाषा के रूप में हिंदी सभी प्रांतों में बोली और समझी जाती है। हिंदी को शब्द संख्या बढ़ी है। राजभाषा के गौरव में भी विकास

हुआ है। सबसे बड़ी बात यह हुई कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में समाचार पत्र-पत्रिकाओं ने आम आदमी की भाषा को उभारा है। उसे उसकी पहचान से रू-ब-रू कराया है। आम जन को लगा कि अब उसके दिन लौटने लगे हैं। उसकी मान-मर्यादा, आत्म-सम्मान, उसकी परंपराएं, सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना में पुनः रचने-बसने लगी हैं। इसीलिए कहीं भी उसे अपनी भाषा में जोरदार ढंग से अभिव्यक्त करने की ताकत मिली है। उसकी आकांक्षाएं एवं सपने अब हाशिए पर नहीं रहे। गांव और कस्बे का संपर्क शहर के लोगों से उसी भाषा में हुआ है। नई शताब्दी में बीती हुई शताब्दी की इसे उपलब्धि ही कहना चाहिए।

देश का परिवेश जहां विविध आयामों में विकसित हुआ है वहीं उसी परिवेश में राजभाषा की सुगंध भी फैली है। दक्षिण की हिंदी संस्थाओं के अतिरिक्त भारत के अन्य हिंदीतराज्यों में भी हिंदी प्रचार सभाओं की स्थापना हुई है। महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा पुणे, गुजरात विद्यापीठ, राष्ट्रभाषा प्रचार सभा बंबई, मैसूर राष्ट्रभाषा प्रचार परिषद, हिंदी साहित्य सम्मेलन, हिंदी विद्यापीठ देवधर, बंबई हिंदी विद्यापीठ बंबई, राष्ट्रभाषा परिषद, जगन्नाथ धर्म आदि हिंदी संस्थाएं हिंदी के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण कार्य कर रही हैं। कुछ समय पहले तक स्वयं हिंदीभाषी लोग हिंदी को एक जटिल भाषा के रूप में देखते रहे थे। देश में हिंदी के प्रचार-प्रसार से उनके इस तरह के दृष्टिकोण में भी बदलाव आने लगा है। ऐसे विचार या मान्यता का एक सबसे बड़ा कारण यह था कि अंग्रेजी के शब्दों का समाज में अधिक प्रचलन हो गया था। इसीलिए जो शब्द पहले से बोले जाते रहे हों उनके स्थान पर अगर नए शब्द आएंगे तो शुरुआती दिनों में वे अवश्य ही जटिल लगेंगे। आजादी के दूसरे दशक के आरंभ में यानी अगस्त, 1961 में आयोजित मुख्य मंत्रियों के विशेष सम्मेलन में तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू की प्रेरणा से एक प्रस्ताव पारित हुआ था

आजादी के दूसरे दशक के आरंभ में यानी अगस्त, 1961 में आयोजित मुख्य मंत्रियों के विशेष सम्मेलन में तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू की प्रेरणा से एक प्रस्ताव पारित हुआ था जिसमें कहा गया था कि भारत की सभी भाषाओं के लिए हिंदी सभी भाषाओं को जोड़ने वाली एक मजबूत कड़ी का काम करेगी।

जिसमें कहा गया था कि भारत की सभी भाषाओं के लिए हिंदी सभी भाषाओं को जोड़ने वाली एक मजबूत कड़ी का काम करेगी।

भारत के उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक हजारों मील के विशाल क्षेत्र में धार्मिक, शैक्षिक और राजनैतिक आदि कार्यों तथा कारणों से आना-जाना लगा रहता है, जिसमें उनके बीच संवाद स्थापित करने में हिंदी ही विशेष भूमिका निभाती है क्योंकि उनके लोकजीवन में हिंदी ही रची-बसी है जिसमें जीवन का रस है और एक-दूसरे से बातें करने की ललक भी है। पर भाषाई क्रांति का यह पहला और अंतिम चरण नहीं है। राजभाषा की प्रगति में अगले कई पड़ाव आएंगे। आशा है इतिहास और वर्तमान के तालमेल से हिंदी की प्रगति और आगे जाएगी।

सिनेमा के आईने में मुस्लिम समाज



अनिल तिवारी

सच एक ऐसा शब्द है, जिसे बोलने का इस देश में दावा तो हर आदमी करता है. मगर यह बोला बहुत कम ही जाता है। यह एक अदभूत संयोग है कि हमारी मूक फिल्मों की शुरुआत 'राजा हरिश्चन्द्र' से हुई, जिन्हें सत्य का पर्याय माना जाता है। बोलती फिल्मों की शुरुआत (बिस्मिल्लाह) उर्दू भाषा में हुई और गलत न कहा जाये तो सृष्टिकर्ता (आलम आरा) के नाम से। यानी हमारी मूक और सवाक दोनों ही फिल्मों की शुरुआत सत्य और ईश्वर के नाम से हुई, अतएव इसका दिन-ब-दिन (106 सालों में) उन्नतियों के सोपान तय करते जाना तो वैसे ही निश्चित था, जैसे समय को निरन्तरता, सूरज का उगना और मौसम का बदलना। भारतीय फिल्मोद्योग (हिंदी फिल्मों) की बात उर्दू भाषा, मुस्लिम समाज, मुस्लिम एक्टरों, लेखकों, शायरों, संगीतकारों, गायकों और फिल्मकारों के बगैर की ही नहीं जा सकती। अगर कोई इसे स्वीकार करने में हिचकता है तो हम यह कहने में जरा भी नहीं हिचकते कि समंदर में रहकर भी उसकी मानसिकता तालाबों वाली है।

वक्त के साथ-साथ समाज जिस तरह अपना केंचुल

बदलता जाता है, उसी तरह सिनेमा भी परिवर्तन का पानी उदरस्थ करता रहता है। परिणामस्वरूप समाज के साथ-साथ फिल्म के किरदारों में भी परिवर्तन दिखने लगता है। बदलाव से जब प्रकृति ही अछूती नहीं तो फिल्में कैसे हो सकती हैं? आदमी भले प्रकृति की ईजाद हो, पर सिनेमा तो आदमी का आविष्कार है।

हमारी फिल्मों से सम्बन्धित एक बड़ा ही दिलचस्प सवाल यह है कि जब हमारी फिल्मों में संवाद व गीतों की भाषा उर्दू है तो फिर उन्हें हिन्दी फिल्मों में क्यों कहा जाता है? उर्दू भाषा में बनी फिल्म को हिंदी फिल्म कहने का पहला मतलब है कि किसी चीज को उसके असली नाम के बजाय किसी और नाम से प्रस्तुत करना। फिल्मों में उर्दू की अहमियत इतनी ज्यादा थी कि जो कलाकार उर्दू नहीं जानते थे, उन्हें उस्तादों से आवश्यक रूप में उर्दू सीखनी पड़ती थी। हर फिल्म में एक डायलॉग इन्स्ट्रक्टर होता था, जो कलाकारों को संवाद बोलने के ढंग और सही तलफुज सिखाता था। बाद में यह परम्परा खत्म हो गयी। भाषा विखरती चली गयी। धीरे-धीरे उर्दू जानने वाले कम होते गये और जो भाषा फिल्मों में बोली



जाती रही वो हिंदी कहलाती रही, लेकिन उर्दू का अस्तित्व बरकरार रहा। हमारी पहली सवाक फिल्म थी 'आलमआरा', जिसके निर्माता-निर्देशक थे आदेशिर ईरानी। यह फिल्म जोजफ डेविड के एक नाटक पर आधारित थी। स्पष्टतया इसकी भाषा उर्दू थी। अपने समय में एक बड़े ही विद्वान और नामचीन लेखक हुआ करते थे। नाम था आगा हश्र कश्मीरी। उन्होंने दूसरी सवाक फिल्म रशीरी फरहादर लिखी थी। उर्दू भाषा में बनी फिल्मों को हिंदी फिल्मों में क्यों कहा जाता है? को लेकर कई बार उर्दू भाषा के फिल्म लेखकों एवं गीतकारों ने सवाल उठाये, मगर आगे कुछ हुआ नहीं। ऐसा माना जाता है कि पैसों और सुविधाओं ने विद्रोह की खुजली को करीब-करीब जड़ से ही मिटा दिया। समझदार फिल्मी लोगों ने इसे न हिंदी माना, न उर्दू बल्कि उसे खालिस हिन्दुस्तानी करार दिया। बाद में तो बंबईया नाम से एक अलग ही भाषा फुदकने लगी, जिसकी झलक हमें आज की कई फिल्मों में भी दिख जाती है। तब के सेंसर बोर्ड ने भी फिल्मों को सर्टिफिकेट देने के मामले में भाषा को लेकर कोई अड़ंगा खड़ा नहीं किया। हिंदी में चाहिए, हिंदी में ले लो। उर्दू में चाहिए, उर्दू में ले लो।

आज फिल्मों से लेकर टीवी धारावाहिकों, वेब सीरीज तथा किसी भी ऑडियो-वीडियो प्रोडक्ट की स्क्रिप्ट (पटकथा व संवाद) रोमन लिपि में लिखी जाती है, क्योंकि आज के कान्वेन्ट शिक्षित एवं तथाकथित विशुद्ध

इंडियन स्टार हिंदी लिपि नहीं पढ़ सकते। उर्दू ती इनके लिए और भी मुश्किल है। आज हमारी भाषा में हिंदी के साथ इंग्लिश के कई शब्द आ मिले हैं। इसका असर फिल्मों में भी देखा जा सकता है। इसके बावजूद ऐसा माना जाता है कि सिनेमा ने ही पूरे भारत के लोगों को हिंदी बोलना सिखाया है।

मुगलों के आगमन के बाद से मुस्लिम संस्कृति, आचार-विचार, उर्दू, अरबी के शब्द, संगीत, स्थापत्य कला आदि धीरे-धीरे भारतीय जीवन के साथ शरबत में शक्कर की तरह घुल गये। संस्कृति के इस संगम को गंगा-जमनी तहजीब का नाम दिया गया, जो आज भी हिंदू-मुस्लिम एकता की बात चलते समय मन में गर्व का एक इंद्रधनुष खींच देता है। भारत-पाक बंटवारे के पूर्व से ही लाहौर और मुम्बई में फिल्म निर्माण का काम सुचारु रूप से चल रहा था। उर्दू भाषा सिखों और हिंदुओं की जुबान पर चढ़ी हुई थी। बंटवारे के बाद जो लोग इस पार आये या उस पार गये, साथ में उर्दू-हिंदी भी लाते लेते गये। उर्दू की शान दोनों ही मुल्कों में बनी रही, बल्कि यह भाषा तो स्थानीय बोलियों तक में समा गयी। इसलिए सआदत हसन मंटो हो. कृश्नचंदर, राजेन्द्र सिंह बेदी, फैज अहमद फैज या उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द, सबकी रचनाओं में उर्दू की खुशबू पायी गयी। उर्दू शब्दों के इस्तेमाल से किसी को परहेज नहीं रहा, मगर फिल्म के उर्दू नाम से यह दावा भी नहीं किया जा सकता कि फिल्म मुस्लिम परिवेश पर ही आधारित होगी।

समय-समय पर होते रहने वाले दंगे फसाद भले अपने दागदार चेहरे दिखाते फिरें, पर सत्य तो यही है कि हिंदी और उर्दू ने कभी एक दूसरे पर आँखें नहीं तरेरी। कवियों और शायरों ने उन्हें सगी बहने माना। इसे सच साबित करने के लिए क्या यह काफी नहीं होगा कि राही मासूम रजा जैसा मुस्लिम कलमकार टीवी धारावाहिक रमहाभारतर के लिए विशुद्ध हिंदी में लिखकर यह संदेश देता है कि रसिनेमा को सिनेमा ही रहने दो, कोई भाषायी नाम न दोर और जब मुसलमान मो. रफी रओ दुनिया के रखवाले, सुन दर्द भरे मेरे नालेर गाता है और सिख बलराज साहनी 'काबुलीवाला' को अपने जीवंत अभिनय से बुलंद कर देता है तो दिमाग की सारी ऋणात्मकता खत्म हो जाती है।

इस आलेख के मुख्य उद्देश्य की ओर बढ़ते समय जो सवाल सामने आते हैं, वो ये हैं कि

1. भारतीय फिल्मों में मुस्लिम कलाकारों, कलमकारों, फिल्मकारों और तकनीशियनों की भूमिका कितनी और कैसी रही?
2. हिंदी फिल्मों में मुस्लिम समाज को किस तरह पेश किया गया?
3. समय के साथ फिल्मों के मुस्लिम चरित्रों/किरदारों में किस तरह के बदलाव आए?
4. मुस्लिम महिलाओं को भारतीय सिनेमा के आईने में कितना खुशरंग व बदरंग दिखाया गया?
5. और मुस्लिम पृष्ठभूमि पर बनी अब तक की फिल्मों का यथासंभव बेलाग विवेचन।



आगे की पक्तियों में इन्हीं सारे सवालियों के जवाब सन्निहित होंगे। 106 सालों का लेखा-जोखा चंद पन्नों में नहीं समेटा जा सकता, मगर संक्षेप में उनका विवेचन करना भी कोई असंभव काम नहीं है।

मुस्लिम समाज भारतीय सिनेमा का एक अभिन्न अंग रहा है। हिंदी सिनेमा में उसका प्रतिनिधित्व असरदार व सशक्त है। वास्तविक जीवन में भी राष्ट्रीयता की भावना को बलवती बनाने में मुस्लिम समुदाय का योगदान उल्लेखनीय रहा है। मुस्लिम समाज से आए लेखकों, फिल्मकारों और शायरों ने उर्दू भाषा एवं तहजीब को फिल्मों में बड़ी खूबसूरती से ढालने का काम किया है।

शुरुआत में फिल्मों पर पारसी प्रभाव तारी रहा, मगर बाद में उर्दूवा मुस्लिमों और गैर-मुस्लिमों ने मुस्लिम संस्कृति और अदब से सिनेमा को बड़ी लगन से सँवारा। पहले की तरह आज भी फिल्मोद्योग में विभिन्न धर्मावलंबी लोग सक्रिय हैं। यहां तक कि विदेशों के कलाकार, तकनीशियन तक भारतीय सिनेमा से जुड़कर नाम, दाम और शोहरत कमा रहे हैं। ऐसे में हिंदू-मुसलमान की बातें करना निरा मूर्खता ही होगी।

ऐसा धर्मनिरपेक्ष उद्योग दुनिया के किसी भी कोने में नहीं मिलेगा। यहाँ जाति, धर्म को नहीं बल्कि प्रतिभा और इंसानियत को तरजीह मिलती है। 1912 से लेकर 2018 तक यानी 106 बरसों में दुनिया काफी बदल चुकी है। विचारों के साथ-साथ तकनीकों में भी आमूलचूल परिवर्तन आ चुके हैं। फ़िल्में बनाने को लेकर भी अलग-अलग विचारधारायें काम कर रही हैं। लेकिन इसका मिजाज पहले जैसा ही शाही है। मुस्लिम वर्ग में परिपक्व प्रतिभाएं तब भी थीं, आज भी रचनात्मक पौध लहलहा रही हैं। बस बदले हैं तो हालात।

1912 से 1947 तक हमारी सामाजिक और राष्ट्रीय परिस्थितियाँ कुछ

अलग थीं। यह अंग्रेजों के खिलाफ चल रहे आंदोलनों का दौर था। हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, तब मिल-जुलकर अंग्रेजों से लोहा ले रहे थे। 1946 और उसके बाद सांप्रदायिक दंगों के साथ-साथ मुल्क के दो टुकड़े हो गये। फिल्मों से जुड़े कई लोग पाकिस्तान चले गये। कुछ यहीं रह गये। सामाजिक हालातों ने आदमी को हजार तरीकों से झकझोरा। फिर भी फ़िल्मी दुनिया को नफ़रत और भेदभाव से अछूता पाया गया। आजादी के बाद के दौर को हम मोहभंग का दौर भी कह सकते हैं। इन तीस बरसों के दौरान लोगों में आक्रोश और असंतुष्टि ने एक बेचैनी भर दी। फलस्वरूप 'एंग्री यंग मैन' जैसे चरित्र सिनेमाई घोड़े पर सवार हुए। सलीम-जावेद जैसे लेखकों ने दर्शकों में व्यवस्था के प्रति विद्रोह की चिंगारियां चटकायीं। इसी दौरान देश में आपातकाल लागू कर दिया गया। आपातकाल ने देश के सीने पर फफोले उगाये। अवाम को फिर से गुलाम होने का आया। इस बार तो अंडरवल्ड अपराध, बावरी (अमरीका) जैसे हमलों के जरिए पूरे विश्व में आतंकवाद ने मस्जिद गांधरा कांड सांप्रदायिक दंगे और वर्ल्ड ट्रेड सेन्टर दहशत का ऐसा माहौल बनाया कि देश-विदेश के फिल्मकारों को फिल्में बनाने के अनगिनत टिप्स दे दिये। अब परदे पर मुस्लिम किरदार बदले। वो रहमदिल इनसान से हैवानों की शक्त में डाले जाने लगे। वो अब हर जगह जलील होने लगे। कारण कुछ नहीं था। बस यही कि वो मुसलमान थे। पांचवें और छठे दशकों में हम मुगल बादशाहों और नवाबों से जुड़े अफसानों तथा अरब बगदाद, सिंदबाद से बाबस्ता किस्सों पर बनी फिल्में देखा करते थे। आज हम दुनिया में व्याप्त दिल दहला देनेवाली सच्ची घटनाओं पर आधारित फिल्में देख रहे हैं। ये हमें बहुत झकझोरती हैं। हमारी चिंताएं बढ़ाती हैं। मगर सच ही कहती हैं। गर्व की बात है कि हकीकतों के दस्तावेज दिखानेवाले ज्यादातर फिल्मकार और अभिनेता

मुस्लिम समाज से आते हैं। उन्होंने आतंकवाद के खौफनाक चेहरे को दिखाने और उसके भयानक पंजों को शिथिल करने की चेष्टा भी की है। 'ए बेडनेसडे' में नसीरुद्दीन शाह आम आदमी की तकलीफों से आजिज आकर एक दुस्साहस भरा कदम उठाते हैं। वहीं शाहरुख खान को अपनी जलालत से तंग आकर कहना पड़ता है कि 'माई नेम इज खान'। ये लोग फिल्म निर्माण का अपना फर्ज ईमानदारी से अदा कर रहे हैं। मुस्लिम लेखकों, फिल्मकारों और अदाकारों के कारण भारतीय फिल्मों में मुस्लिम तहजीब और तौर तरीकों को एक्सपोजर मिला। फिल्मों में पूरी कोशिश की गयी कि भाषा की नजाकत और तहजीब की नफासत बनी रहे। जब ऐतिहासिक और मुस्लिम समाज प्रधान फिल्में बन रही थी तो देश में आज की तुलना में काफी अमन और सुकून था। तब हम कभी शाहजहाँ और मुमताज महल की प्रेमकथा देखकर मस्त हुआ करते थे तो कभी सलीम-अनारकली की बगावती मोहब्बत देखकर झूम उठते थे।

अपनी फिल्मों में हमने लुगी तहमद लपेटे और बनियान पहने बड़े अदब के साथ पेश आनेवाले रहीम, उस्मान, सलीम अथवा अब्दुल चाचा को देखा, जिनके गले में ताबीज और सिर पर गोल टोपी पायी गयी। हमें नमाज के पाबंद और मुह से उर्दू के खूबसूरत लफ्ज टपकाने वाले विभिन्न किरदारों के दीदार हुए। तंग पाजामा, कुर्ता पहने नवाब टाईप लोगों के अलावा अजीमो शान शौकत वाले बादशाह भी दिखते रहे। बादशाह, सेनापति और दरबारी तो खैर एक स्थापित लिबास में रहे। पान, पानदान, धूकदान, हुक्का, खादिम, कनीज आदि को भी हमने उनकी सेवा करके धन्य होते हुए देखा। सलाम और कोर्निश करने का एक अलग ढंग। घुटने मोड़कर बैठने का एक जुदा अंदाज। जब तक ऐतिहासिक फिल्में बनले परिधानों के जरिए झलकती रही। फिल्मों में बादशाही के रही बादशाहों की दरबारी संस्कृति विभिन्न तौर-तरीकों और दरबारों से ज्यादा कोते दिखाये गये। लच्छेदार लफ्जों की खूबसूरत बानगियों से ज्यादा मुजरे और कव्वालियां सुनवायो गयीं। औरतों को सलवार, कमीज और पंजाबी सूट में पेश किया गया। परदा, दुपट्टा और बुरका के सिवाय तो महिला मुस्लिम पात्रों की कोई पहचान ही नहीं बनती थी। अगर किसी पुरुष पात्र से गुप्तगू करनी हो तो उसके लिए चिलमन की व्यवस्था। एक दूसरे की बात सुनें सुनायें मंगर परदे थे। रक्कासा भी पूरे कपड़ों में नाचती हुई ऐसा उन्माद पैदा करने का दम रखती थी कि आज की आजाद ख्याल अभिनेत्रियां पूरी तरह वस्त्रहीन होकर भी वो प्रभाव पैदा नहीं कर सकती।

हम जिन मीना कुमारियों और मधुवालाओं के दिलकश अंदाज परदे पर देखकर मुग्ध हुए। उन्होंने वो कातिलाना अंदाज पेश करने के लिए कितनी मशक्कत की होगी? यह भी सोचनेवाली बात है। इस्लाम में ड्रेस कोड का कहीं कोई विधान नहीं है। मगर जो फिल्मों में चला, वो दिल और दिमाग में भी चलता रहा।

जो सिनेमा ने दिखाया, हमने उसे इतिहास के पन्नों का सिनेमाई तजुर्मा समझा। जैसे-जैसे समय बदला, सिनेमा में मुस्लिमों के प्रतिनिधित्व का स्वरूप भी बदला। क्योंकि समाज के अन्य तबकों के साथ-साथ मुस्लिम

समाज भी बदल रहा था। फिल्मकारों ने बदलती हवाओं का रुख देखते हुए फिल्मों के विषय बदले। बाद में तो हमने 'गरम हवा' झेलने के साथ-साथ 'मंडी' और 'बाजार' के भी फेरे लगाये। फार्मूला फिल्मों के दौर में भी मुस्लिम चरित्र फिल्मों में आवश्यक रूप से प्रतिस्थापित किये जाते रहे। फिर अंडरवर्ल्ड को आधार बनाकर फिल्में बनाने का काम शुरू हुआ। वैसे तो मुस्लिम चरित्रों की तादाद बड़ी, मगर उनके दोष उजागर होते हुए भी दिखाये जाने लगे। पहले उन्हें बुराइयों के मुरीद के रूप में दिखाया गया, फिर उनकी मजबूरिया बताकर सहानुभूति के सिक्के भी इकट्ठे करने की कोशिशें हुईं। फिल्मकारों ने तो प्लानिंग के मुताबिक पैसे बटोरे मगर मुस्लिम समुदाय की छवि बिगाड़ने का भी उन्होंने कोई कम काम नहीं किया। जिसका अफ़सोस उनकी तरफ से कभी जाहिर भी नहीं किया गया। यह सच है कि कई अवसरवादी फिल्मकारों ने हिंदू-मुस्लिम एकता को चादर चढ़ाने का झूठा नाटक किया और बॉक्स ऑफिस का दिव्य प्रसाद लेकर खामोश हो गये।

फिल्म मैकिंग और मुस्लिम समुदाय

जब तक मूक फिल्में बनती रहीं। भाषा और संगीत को लेकर कोई उलझन नहीं थी, लेकिन जैसे ही बोलती फिल्मों का जमाना शुरू हुआ, संवादों और गीतों के लिए एक अदद भाषा की जरूरत महसूस हुई। तब उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, दिल्ली, पंजाब जैसे राज्यों में हिंदी और उर्दू की मिश्रित भाषा बोली जाती थी। जिसे हिन्दुस्तानी भाषा का नाम भी दिया गया। यह भी ध्यान देने वाली बात है कि फ़िल्मी दुनिया में ज्यादातर फिल्मकार, गीतकार, मौसिकीकार और संवाद लेखक आदि उत्तरी भारत से ही आये। तब अखबारों-सिनेमाओं से जुड़े कई पत्रकार भी फिल्मों में आते जाते और लिखते रहे। वो बड़े ही प्रतिभाशाली और जागरूक थे। आजादी के पूर्व उत्तरी भारत के बहुत सारे छोटे-बड़े शहरों में मुस्लिम समुदाय की तादाद ज्यादा थी। ये लोग संभ्रान्त परिवारों से सम्बन्ध रखते थे। ये आर्थिक रूप से सबल, कलात्मक रूप से संवेदनशील एवं बौद्धिक रूप से सजग व प्रखर थे। यही लोग तीसरे और चौथे दशक में बंबई की ओर रवाना हुए कुछ करने, नाम और शोहरत कमाने के लिए। इन्हीं शहरों से अन्य समुदायों (हिन्दू, सिख) के लोग भी फिल्मों में कुछ करने के इरादे से पहुंचे।

देश के बंटवारे के साथ फिल्मों से जुड़े कई महत्वपूर्ण लोग पाकिस्तान चले गये। मसलन, नूरजहां, स्वर्णलता, नजीर, डब्लू जेड अहमद, शौकत हुसैन रिजवी, लुकमान, ख्वाजा खुशीद अनवर, सआदत हसन मंटो, फिरोज निजामी आदि। आजादी के पूर्व और उपरांत भी भारत में हिन्दू सही अर्थों में बहुसंख्यक थे। आपसी नफरत के कारण यह संभव नहीं था कि बहुसंख्यक दर्शक मुसलमान कलाकारों को स्वीकार करें। अतएव कई लोगों ने अपने हिन्दू नाम रख लिए, जैसे दिलीप कुमार, जयंत, जॉनी वॉकर, मीनाकुमारी, मधुबाला आदि।

जिन मुस्लिम लेखकों, शायरों और निर्माता निर्देशकों ने भारतीय

फिल्मों में अपना योगदान दिया और यादगार कृतियां छोड़ीं, उनमें से कई लोग बाद में पाकिस्तान चले गये। बतौर फनकार और कलमकार निम्नलिखित हस्तियों ने अपने इल्म से फिल्मोद्योग को संपन्न किया:-

मंटो, इस्मत चुगताई, महबूब खान, शहीद लतीफ, ख्वाजा अहमद अब्बास, ए आर कारदार, के. आसिफ, कमाल अमरोही, राजा मेहंदी अली खान, अली सरदार जाफरी, निदा फाजली, कैफी आजमी, रफीक गजनवी, आगा जानी कश्मीरी, साहिर लुधियानवी, जां निसार अख्तर, अख्तर उल इमान, शहरयार, जावेद अख्तर, अबरार अल्वी, वजाहत मिर्जा, एस एच बिहारी, अख्तर मिर्जा, मिर्जा मुशर्रफ, सईद मिर्जा, एस. यू. सन्नी, एम. सादिक, नौशाद, गुलाम मोहम्मद, गुलाम हैदर, ए. नक्शब, जिया सरहदी, मुजफ्फर अली, सुलतान अहमद, अब्बास मस्तान, साजिद नडियादवाला, एस. एम. युसूफ, फिरोज खान, संजय खान, सज्जाद, सरदार मालिक, खय्याम, शमशाद बेगम, अमीरबाई कर्नाटकी, तलत महमूद, मो. रफी, शब्बीर कुमार, मुन्ना अजीज, खुशीद बानो, हेमलता, सुरैय्या नूरजहां आदि।

एक्टरो में दिलीप कुमार, जयंत, रहमान, इफतेखार, नजीर कुमकुम, सायरा बानो, मुमताज, जगदीप, परवीन बॉबी, जीनत अमान, शबाना आजमी, जरीना बहाव, रेहाना सुलतान, आशा सचदेव आदि। फिल्मों में अपना अहम योगदान देने वाले आज हसैन नासिर और ताहिर खान, श्यामा, शकीला निम्मी अमिता, मधुबाला, मीना कुमारी, नरगिस, वहीदा हिमाते, के सक्रिय मुस्लिम प्रतिभाओं को भुलाया नहीं जा सकता :-

नसीरुद्दीन शाह, राजा मुराद, फारुख शेख, कादर खान, स्व. महमूद, स्व. जॉनी वाकर, शाहरुख, सलमान, आमिर, इरफान खान, फरहान अख्तर, सैफ अली खान, इमरान खान, अरशद वारसी, सोहैल, अरबाज, जायद खान, इमरान हाशमी, फराह खान, सरोज खान, जोया खान, इम्तियाज अली, अनीस बज्मी, कबीर खान, ए आर रहमान, दिया मिर्जा, फराह, तब्बू, कैटरीना कैफ, जरीन खान, अन्नू मलिक, सलीम सुलेमान, इस्माईल दरबार, राहत फतेह अली खान आदि आदि।

कुछ फिल्मों जिन पर मुस्लिम सभ्यता, संस्कृति और मुगल-मुस्लिम पृष्ठभूमि का प्रभाव माना जा सकता है, निम्नांकित है :-

पुकार, नजमा, बरसात की रात, बेनजीर, गजल, पालकी, दिल ही तो है, बहू बेगम, याद, मेरे हुजूर, महबूब की मेहंदी, दस्तक, नसीम, बाजार, चंगेज खान, लेडीज टेलर, तवायफ, फिजाए सरदारी बेगम, मम्मा, गरम हवा, अंजुमन, गमन, जहांआरा, उमराव जान, शतरंज के खिलाड़ी, मकबूल, जुबैदा, वेल डन अब्बा, मेरे महबूब, मेरे हुजूर, ऐलान, जुनून, आमिर, ब्लैक फ्राइडे, खुदा गवाह, जोधा अकबर, अनारकली, मुगले-आजम, अजूबा, हसीना पारकर, वंस अपोन ए टाईम, मिर्जा गालिब, वजीर-ए-आजम, थीफ ऑफ इराक, थीफ ऑफ बगदाद, तलाक, सुलतान-ए-आलम, सन ऑफ हातिम ताई, सन आफ अलादीन, सन आफ अलीबाबा, शाहे इरान, शाहे मिसर, रईस, कज्जाक की लड़की, रश्के लैला, रजिया सुलतान, रजिया सुलताना, रुस्तम-ए-सोहराब,

रुस्तमे बगदाद, रुस्तमे-ए-जहां, शमशीरे अदब, शमशीरे जंग, शाने हातिम, शाने सुभान, सिंदबाद दी सेलर, शरे अफगान, शरे बगदाद, शरे काबुल, हुमायूँ, ईद का चांद, ईद मुबारक, लाल किला, शाहजहां, शहंशाह बाबर, ताजमहल, मेरे गरीब नवाज, मिर्जा साहिबान, नूरजहां, नौशेरवाने आदिल. नूरे यमन, नूरे अरब, नूरे इलाही, नूरे इस्लाम, नूरे वहादत, शहंशाह अकबर, नूरे वतन, नूरे अमन, निकाह, पाकीजाए राजी, दीदारे यार, हीना, रोजाए सरफरोश, मिशन कश्मीर, बिस्मिल्लाह की बरकत, बुलबुले बगदाद, बुलबुले ईरान, बुलबुले परिस्तान. हातिमताई, हातिमताई की बेटी, हमारा हज, फखे इस्लाम, सलीम लंगड़े पर मत रो, अंजुमन, कुर्बान आदि आदि।

अब कुछ टेलीविजन धारावाहिक जो मुस्लिम पृष्ठभूमि पर आधारित हैं या मुस्लिम किरदार जिनमें महत्वपूर्ण हैं:-

मिर्जा गालिब, गुल गुलशन गुलफाम, मुल्ला नसीरुद्दीन, फरमान, अमानत, हिना, अम्मा एंड फेमिली, शाहीन, कश्मीर, नाम गुम जायेगा, मेहर, अकबर बीरबल, ख्वाहिश, चांद के पार चलो, सियासत, सजदा तेरे प्यार में, कुबूल है, जोधा अकबर, बेइंतहां, हमसफ़र, तुम साथ हो जब अपने, रजिया सुलतान, प्यार को हो जाने दो, मस्तानगी, नामकरण, पीओडब्ल्यू बंदी युद्ध के, दिल से दिल तक, पेशवा बाजीराव, इश्क सुभान अल्लाह, बेपनाह, मरियम खान, रिपोर्टिंग लाईव आदि।

(टीवी धारावाहिकों के मामले में यह देखा गया है कि फार्मूला 'बहुसंख्यकों' के लिए 'अल्पसंख्यकों को ज्यादा तवज्जो नहीं मिलती। मुस्लिम समाज आधारित फिल्मों या टेलीविजन धारावाहिक बहुत ज्यादा लोग नहीं देखते। एक तो दर्शकों की कमी दूसरे उन धारावाहिकों में ऐसी-ऐसी चीजें दिखायी व बतायी जाती हैं। जो आम लोगों को हजम नहीं होतीं।)

सामाजिक मुस्लिम फिल्मों में औरत

दुनिया के किसी भी कोने में जाइए, समाज में स्त्रियों के प्रति एक सी ही धारणा देखने को मिलेगी। वो यहां, वहां, सर्वत्र शोषण, उत्पीड़न व सेक्स कुंठाओं का सामान ही समझी जाती रही है। प्रचार साधनों, अखबारों, रिसालों, पत्र-पत्रिकाओं और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में उसकी आकर्षक देहयष्टि को एक्सपोज करते हुए लोग पैसे कमाते और अपनी विकृतियों की तुष्टि करते मिलेंगे। यह मानव समाज की त्रासदी ही है कि वो चाहे। जिस धर्म का अनुयायी हो, औरत को निश्चित रूप से भोग का सामान ही माना जाता है। मुस्लिम सामाजिक फिल्मों में भी औरत को मुस्लिम समाज की तरह ही हाशिए पर रखा गया है अथवा कहें कि पुरुष प्रधान समाज ने दोनों ही जगह लक्ष्मण रेखाएं खींचकर उसकी सीमा तय कर दी है। वास्तविक जिंदगी में मुस्लिम औरत अशिक्षा, गरीबी, बहुविवाह, तलाक जैसे सामाजिक कोढ़ को अपने वजूद से अभी तक पूरी तरह अलग नहीं कर पायी है। 70 साल के शेख आज भी 11 साल की नाबालिग लड़कियों से विवाह कर रहे हैं। मोबाइल पर ही बददिमाग शौहर एक ही लफ्ज तीन बार बोलकर अपनी अय्यारी दिखाने से बाज नहीं आ रहा।

वो संस्कारों की घंट में ही चारदीवारी तक महदूद रहने की कला सीख जाती है। बाहरी दुनिया पुरुषों की तरफ से उसके लिए वर्जित है। समाज और परिवार दोनों ही उसके पांवों में पाजेब की जगह बेडियां देखना चाहते हैं। हां, बदलतो हवाओं ने उनके मंसूबों पर ठोकर मारना शुरू कर दिया है। मुस्लिम समाज ने तो उसे दुपट्टे परदे और बरके से कुछ इस तरह बाबस्ता कर रखा है कि बरसों तक इनसे अलग होकर उसकी सांसें घुटती रहेंगी। ऐसा लगता है जैसे उसकी गरिमा जन्म के पूर्व से ही समाज के मदों के पास गिरवी पड़ी हो। पुरुष उसे अपने लिए हमेशा दूसरों की नजरों से बचाकर रखना चाहता है। मुस्लिम समाज में से अगर किसी पुरुष या स्त्री ने उन जाहिलाना ज्यादतियों के खिलाफ आवाज उठाई तो शरीयत का हवाला देकर उस पर फतवा जारी कर दिया जाता है, जबकि कुदरत ने औरत को भी मर्द के समान ही हर नेमत से बख्शा है। बात-बात पर कुरान और शरीयत का सन्दर्भ तो सब देते हैं मगर उनमें उल्लिखित किसी भी निर्देश का ईमानदारी से कोई पालन नहीं करता। गलत व्याख्या, गलत उपयोग। सिर्फ बरगलाना और खुद को लाभ पहुंचाना। जो भी हो हमारा समाज आज भी परदे और बुरके से मुक्त नहीं हुआ। ये बुरके कभी-कभी गलतफहमियां भी पैदा करते हैं और मुश्किलें भी। शुरुआत से लेकर आज तक की मुस्लिम सामाजिक फिल्मों में 'बुरके' की नुमाइंदगी कम या ज्यादा मगर बरकरार मिलेगी। चिलमन नहीं, परदा नहीं, बुरका नहीं, मुस्लिम सामाजिक फिल्म? लोग कहते हैं कि अरब देशों बात-व्यवहार में नफासत व नजाकत नहीं तो फिर वो कैसी बुरका ईजाद हुआ था। कुछ लोग इसे बुरी नजर वालों की में आधी के कारण उड़नेवाले धूल कणों से बचने के लिए भी साबित हो जाता है। बुरकेवालों को लोग जल्दी छोड़ते दवा कहते हैं। यह अक्सर महिलाओं के लिए सुरक्षा कवच नहीं, इसलिए कुछ अपराधी भी बच निकलने के लिए बुरके की वृद्धा तक को नहीं छोड़ते, फिर बुरके पहनकर पूरी तरह का इस्तेमाल कर लेते हैं। यहां तो काम पिशाच 80 साल है? मुस्लिम या गैर-मुस्लिम पृष्ठभूमि वाली फिल्मों में अगर सुरक्षित हो जाने का इस देश में कोई कैसे दावा कर सकता छोटे-बड़े मुस्लिम किरदार हैं भी तो मुस्लिम जीवन शैली और संस्कृति की हल्की झलक तो देखी ही जा सकती है।

के अत्याचार सहती हुई स्त्री चुपचाप कोने में दुबकी दिखती गैर-मुस्लिम पृष्ठभूमि वाली फिल्मों में पति, सास-ननद है। मुस्लिम सामाजिक फिल्मों में भी उसकी हालत अच्छी नहीं दिखती। वो हमेशा पाबंदियों में घिरी रहती है। तीन सौतनों और तीन तलाक की आशंका में वो जीवन भर डूबती उतराती रहती है। भारतीय फिल्मों में तो तवायफों के बड़े जलवे हैं।

उन्हें शोपीस बनाकर रखा जाता है। इने गिने फिल्मकारों में ही वो कुव्वत है जो उनकी भावनाओं के कण-कण से कोर्ड पिरामिड बना सके। मुस्लिम नवाबों और बादशाहों के समय से ही तवायफ संस्कृति बरकरार है। मुस्लिम प्रधान फिल्मों से कहीं ज्यादा एक्सपोजर तवायफों को दिया गया है। पुराने वक्त में ही अमीर ताकतवर और रसूख वाले लोगों की दिलजोई करने, उनको शारीरिक सुख देने और उनकी रखैल कहलाने को

ही अपना जहेनसीब मानकर जीनेवाली औरतें तवायफ मानी गयीं। हमारे हिंदी फिल्मोद्योग में तवायफों पर आधारित फिल्में मुस्लिम समाज में औरतों की उनकी हैसियत समझाती हैं। सामने शानो-शौकत के नज्जारे दिखेंगे, मगर इज्जत की कानी कौड़ी से भी वो महरूम होंगी।

न सिर्फ मुस्लिम प्रधान फिल्मों में बल्कि शुरुआती फिल्मों में भी औरत को इनकी जैसी ही दुःस्थिति झेलते हुए दिखाया गया है। वास्तविक जीवन में गैर-मुस्लिम गायिकाओं व नर्तकियों को मुस्लिम नाम दिये गये। कुछ नर्तकी गायिकाओं को मुख्य किरदार के रूप में लेकर भी फिल्में बनीं। बी आर चोपड़ा की 'साधना' और रामदयाल की 'प्रभात' संभवतः ऐसी ही फिल्में थीं। बाद में बी आर इशारा ने उन्हें 'चेतना', 'जरूरत' जैसी फिल्मों में आधुनिक बना दिया। तवायफ संस्कृति को सबसे ज्यादा संरक्षण नवाबों ने दिया। तवायफों की कई सनसनीखेज कहानियां तो फ़िल्मी परदे तक पहुंची ही नहीं। औरत को तवायफ बनाने के लिए उस पर बहुत जुल्म ढाये गये। उनकी खूबसूरती के कारण उनका अपहरण हुआ। खानदानी दुश्मनी के कारण भी उन्हें इस संस्कृति को अपनाने के लिए मजबूर किया गया। यह समाज में भी दिखा और फिल्मों में भी। 'उमरावजान' की कहानी भी कुछ ऐसी ही है। आधुनिक काल में नागेश कुकनूर की फिल्म 'लक्ष्मी' भी यही सब दिखाते हुए रोंगटे खड़े करती है। नवाबों के समय में उन्हें उर्दू शायरी, अरबी व्याकरण और अमीर उमराओं की दिलजोई के तौर तरीके सिखाये गये। नीजी और सार्वजनिक महफिलों में किस तरह अलग अलग तरीके से पेश आना है, ये सारे गुर उन्हें सिखाये जाते थे। हमारी कई फिल्मों में इनके अलग-अलग रूप दिखाये गये हैं। लोग स्वयंमेव उसके पास अपनी पत्नी, अपना घर छोड़कर आते और धन लुटाते हैं। तवायफ उनसे प्रेम करके उनका घर नहीं तोड़ना चाहती। मौका लगा तो उससे अपनी दिलजोई करनेवाले भी उसे पथभ्रष्ट और सती-सावित्रियों के घर बिगाड़ने वाली का नाम दे जाते हैं।

तवायफों पर बॉलीवुड में कई फिल्में बनी हैं, जिनमें 'उमराव जान' और 'पाकीजा' का नाम सबसे ऊपर आता है। दोनों में नायिकाओं को कोठे तक पहुंचाया गया है। जो लड़की या औरत कोठे की सीढ़ियां चढ़ी, वो शायद ही घर को देहरी तक वापस पहुंची। अभी तक तो हमारा सामान्य ज्ञान यही है। हमारी फिल्मों में पान चबाती हुई कोठे की मम्मी तवायफ की बलैय्या लेती और कद्रदानों से मिले नोट गिनती दिखती है। तवायफ नाच मुजरा पेश करती रहती है। वक्त-वक्त पर कद्रदानों को सलाम भी ठोंकती रहती है। शायद यह बताने के लिए कि वो अपनी औकात जानती है। उसके पायल की झंकार के साथ ताल में ताल मिलाते साजिदे किसी खास के आने या कोठे की मालकिन के इशारे पर अपना साज संधालते हुए लोकेशन खाली कर देते हैं। तवायफ चमकदार, भड़कदार कपड़े पहने, भारी गहने लादे व हैवी मेकअप किए तश्तरी में पान लिए पेश होती दिखती है। अब मोबाइल, लैपटॉप, इन्टरनेट के इस जमाने में तो कॉलगर्ल भी कम दिखने लगी हैं। शहरों में भी कोठे उजड़ गये। फिल्मों में भी तवायफें न के बराबर दिखने लगीं।

हमने अपनी फिल्मों में यही देखा कि तवायफ अपने हालात से पूरी तरह वाकिफ होती है। वो भ्रम में नहीं रहती। वो ज्यादा बड़े-बड़े सपने भी नहीं देखती। कोठों के तौर तरीकों की जानकारी देते समय उन्हें मदों से सिर्फ धन ऐंठने और किसी भी मोह माया में न फंसने की ताकीद की जाती है। किसी से मोहब्बत करना उनके लिए सर्प दंश झेलने के समान माना जाता है। कभी-कभी उन्हें भी किसी न किसी से मोहब्बत हो जाती है, लेकिन वो उस राह पर बहुत आगे तक नहीं बढ़ पातीं। एक-दो नहीं सैकड़ों फिल्मकारों ने इन बदनसीब तवायफों पर सैकड़ों फिल्में बना दी। उन्हें कोठे पर छोड़ दिया और खुद कई-कई कोठियां बनवा ली। उनकी पहचान झूम-झूम कर कव्वाली गाने और झुक झुक कर मुजरा सुनाने तक सीमित कर दी गयी है। बड़े-बड़े लोग उनके पास आते-जाते रहे। रिश्ते तो बना लिए, मगर उन्हें समाज में सम्मान के साथ जीने देने के लिए अपना नाम देने की हिम्मत नहीं जुटा पाये। प्रेम से वंचित प्रेमियों का वो दर्द हरण करती रहीं, मगर बदले में उन्हें हर तरफ से उपेक्षाओं, बददुआओं और बदहालियों की गरम हवा में झुलसना पड़ा। कई फिल्मों में उसे किसी भलेमानस के साथ घर बसाने का मौका भी दिया गया। फिल्म अगर आशावाद का दामन छोड़ दे तो बात कहा बनती है, अतएव निर्माताओं ने तवायफों से जुड़ी कई फिल्मों में सुखद अंत भी दिए। भले परदे से परे, यह सच देखने को मिले या न मिले। कई फिल्मों में हमने तवायफों के दुखद अंत होते भी देखे। या तो वो रास्ते से खुद हट गयीं या हटा दी गयीं। कभी प्रेमी ने बरगलाया, कभी समाज ने ठुकराया, कभी तकदीर ने दुत्कारा।

'उमरावजान' और 'पाकीजा' जैसी फिल्मों में मुजफ्फर अली और कमाल अमरोही ने उनकी भावनाओं को सम्मान देने की कोशिश की। कई फिल्मकार अपनी फिल्मों में औरतों के जरिये मुस्लिम आदर्शों की स्थापना करने में लगे रहे।

चाहे 'आलमआरा' के बाद का दौर हो या आज आतंकवाद के ग्लोबल स्तर तक को छू लेने का। फिल्मकारों के पास मुस्लिम समाज से जुड़े विषयों की कोई कमी नहीं रही। बहुत सारे फिल्मकारों ने तवायफों पर आधारित फिल्में बनायीं। कुछ ने उनकी भावनाओं को जन-जन तक पहुंचाने की भी कोशिश की। इन फिल्मों ने समाज को कितना बदला, यह तो बाद का सवाल है। आज का बड़े से बड़ा सिद्धान्तवादी भी तवायफ का जिस्म तो चूमना चाहेगा, मगर अपना नाम उसके साथ जोड़ना कभी कबूल नहीं करेगा। औरत जिस क्षण तवायफ का बाना ओढ़ती है, सदा के लिए तलाकशुदा हो जाती है।

फिल्म फिल्म होती है, वास्तविक जिंदगी नहीं। तवायफें चाहे जिन धर्मों की हों, उनके हिस्से में जहालत, जलालत और बदहाली ही आती है।

फिल्मों में मुस्लिम चरित्र

मुस्लिम समाज की बात करने का सीधा मतलब होता है कि जो फिल्में मुस्लिम समाज, संस्कृति और जीवन से जुड़ी समस्याओं पर केन्द्रित हों, उन पर बात की जाए। 1947 के बाद से गैर-मुस्लिम पृष्ठभूमि वाली

फिल्मों में भी किसी न किसी मुसलमान चरित्र को दिखाना एक फैशन बन गया था। इस समाज की पहचान विभिन्न युगों में विभिन्न तरीकों और सामाजिक, राजनैतिक हालातों के मद्देनजर होती रही है। विश्व भर में होने वाली इस्लामिक हलचलों और युद्धों का भी उन पर असर पड़ता है। फिल्म चाहे मुख्य धारा की हो या भारत की कोई भी प्रादेशिक फिल्म, एक मुस्लिम कैरेक्टर उसमें बैलेंस बनाने के लिए जरूर रख दिया जाता है। किरदार मुस्लिम है तो उसे 'चाचा', हिन्दू है तो 'काका' बना दिया जाता है। जैसे रहीम चाचा, रामू काका। बहनें दीदी या आपा कहलाती हैं।

शुरुआत में हमारे यहां समस्या प्रधान फिल्में बहुत कम तादाद में बनती थीं। फिल्मों में मुस्लिम समाज से जुड़ी जो कहानियां होती थीं, वो सभ्रान्त मुस्लिम परिवारों के इर्द-गिर्द बुनी जाती थीं। सामान्य वर्ग के मुस्लिम परिवारों का निरूपण उन फिल्मों में नहीं हो पाता था। उनमें अक्सर मोहब्बत और बगावत की कहानियां होती थीं, जो शाही, नवाबी परिवारों के शहजादों और शहजादियों को नायक-नायिका बनाती थीं। हाँ, इन फिल्मों में एक महत्वपूर्ण काम यह किया गया कि हवेलियों, कोठियों और कोठों के तहजीबों से आम दर्शकों को अवगत कराया गया। अवगत कराने के इस खेल में नामचीन मुस्लिम फिल्मकारों पर भी इस्लाम और मुस्लिम समाज को गलत तरीके से पेश करने का आरोप लगा। दंगों की आंध से झुलसा हुआ यह मुल्क फिर उन तेजाबी वादियों का रुख करना नहीं चाहता था। हुकूमत भी धर्मनिरपेक्षता की बात कर रही थी। अतएव फिल्मकारों ने अपनी फिल्मों में मुस्लिम चरित्रों को धर्मनिरपेक्ष दिखाने की एक नयी परम्परा शुरू कर दी। कई बड़े फिल्मकारों ने राष्ट्रीय अखंडता और भाईचारे की भावना को सुदृढ़ करने का प्रयास करते हुए फिल्में बनायीं। रथूल का फूल, रपड़ोसीर, रभलाईर, रभाईचारार आदि पुरानी फिल्में इसका सशक्त उदाहरण हो सकती हैं। यह परम्परा लंबे समय तक चली। सच कहिये तो अभी भी चल रही है मगर अब यह हास्यास्पद और नौटंकी जैसी लगने लगी है। हर आदमी इसकी असलियत को जानता व समझता है। हां, बंटवारे (पार्टीशन) पर बनी फिल्में इस फार्मूले से अछूती मानी जा सकती हैं।

जब मुस्लिम समाज भी इसी मुल्क में रहता था तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि उसके सामने समस्याएं नहीं थीं, पर मुस्लिम फिल्मकारों ने अपने कैमरे उन पर केन्द्रित नहीं किए। उन्हें फिल्मों में 'एक्स्ट्रा प्लेयर, के रूप में रखा गया। फिल्म में गति बनी रहे, लोग हिंदू-मुस्लिम भाई-भाई करते रहे और वो फिल्म दिखाकर, माल समेटकर निकल जाएं। महबूब खान ने तो मुसलमान होकर भी 'मदर इंडिया' में एक भी मुस्लिम चरित्र नहीं डाला, मगर 'मदर इंडिया' तो वर्ल्ड इंडिया हो गयी। फिल्मकार अभिजात्य मुस्लिम संस्कृति के घेरे से बाहर शायद निकलना ही नहीं चाहते थे। चूंकि गरीब दर्शक भी फिल्मों में अमीरी के सपने ही देखना चाहता है, अतएव मुस्लिम फिल्मकारों ने भी सामाजिक फिल्मों के नाम पर मुस्लिमों को सामाजिक दुनिया के दीदार कराये मगर आधे-अधूरे। वो सिर्फ मुस्लिम दर्शकों के लिए फिल्में बनाते थे या सबके लिए, ये तो वही जानें, मगर

बहुसंख्यक समाज ने भी उन फिल्मों को देखा। कौन कहेगा कि उसने पाकीजाए मुगले-आजम, अनारकली, ताजमहल, निकाह नहीं देखी?

मुस्लिम सामाजिक फिल्मों में मुस्लिम समाज की समस्याओं निकाह, याद, तवायफ, नौकर, चौदहवी का चांद जैसी पर फोकस किया गया था। अधिकांश फिल्मों में गरीब तबके के मुस्लिम पात्रों को ईमानदार और वफादार ही दिखाया गया है। भले उन पर हालातों के मद्देनजर इलजाम चम्पां हुए हों। पर वो मियार पर हमेशा खरे उतरते रहे। 1970 के बाद से तो सामान्य मुस्लिमों की जिन्दगी भी परदे पर उतर आयी। जब नयी धारा अथवा समानान्तर फिल्मों की शुरुआत हुई इस नयी धारा में मुस्लिम समाज की वास्तविक तस्वीरें तथा रोज-रोज की किल्लतें और मुश्किलें सामने आयीं। समाज में हाशिये पर पहुंचे आर्थिक रूप से पूरी तरह विच्छिन्न और सांप्रदायिक हिंसा के शिकार मुस्लिम लोगों की समस्याओं को परदे पर दिखाया जाने लगा। नए किस्म के कई चरित्र परदे पर अवतरित होने लगे।

समय के साथ कई चीजें आऊटडेटेड हो जाती हैं और जिन्हें जबरन थोपा नहीं जा सकता, इसलिए मुस्लिम फिल्मकारों ने भी खुद को बदला। उनका बदलाव उनकी फिल्मों में झलका भी। मनमोहन देसाई की फिल्म रकलीर और प्रकाश मेहरा की 'मुकद्दर का सिकंदर' ने आठवें दशक में असुरक्षित और कमजोर महसूस कर रहे निचले मुस्लिम वर्ग को बहुत संबल प्रदान किया। तब हर तबके के युवा वर्ग के आक्रोश को अभिव्यक्त करने का बीड़ा अमिताभबच्चन ने उठाया था। 'बिल्ला नं. 786' को तो उन्होंने कुछ ऐसा मशहूर किया कि बाद के फिल्मकारों ने उसे बेशर्मी की हद तक दोहराते हुए बोर किया और 786 का भी महत्व गिरा दिया। 1970 के बाद नयी धारा अथवा समानांतर

सिनेमा की जो हवा चली तो कई प्रबुद्ध फिल्मकारों ने लीक से हटकर काम करना शुरू किया। जिस विषय पर पर्दा डाला जा रहा था. या लोग जिन मुद्दों पर खुलकर सामने आना नहीं चाहते थे. फिल्मकारों ने उन्हीं पर काम करना शुरू किया। प्रयोग करने के लिए उन्हें सुविधाएं भी मिलीं। कम बजट की फिल्मों के लिए भी स्कोप खुला। सईद मिर्जा की दो फिल्मों रसलीम लगंडे पर मत रोह एवं रनसीमर का फायनेन्स राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम ने किया था। ठीक उसी समय एम. एस. सथ्यू ने 'गरम हवा' बनाकर पुरानी परम्परा को तोड़ने की सफल कोशिश की। फिर तो मुस्लिम समाज की बुराईयों पर प्रहार करती हुई कई फिल्में सामने आयीं, जो आज भी प्रासंगिक हैं। सागर सरहदी की फिल्म 'बाजार' एक ऐसी ही फिल्म थी। बी आर चोपड़ा ने फिल्म रनिकाह बनायी, जो मुस्लिम समाज को आईना दिखाती है। नयी धारा की फिल्मों को एक से एक बेजोड़ कलाकार भी नसीब हुए. जिन्होंने उन फिल्मों को अमरता दे दी।

1990 के बाद पूरे विश्व में घटी कुछ अप्रिय घटनाओं ने बहुत कुछ

बदलकर रख दिया। चंद लोगों के कुकर्मों के कारण मुस्लिम समाज को रुसवा होना पड़ा। उन्हें बुरा, देशद्रोही और गद्दर बताया व दिखाया गया। युद्ध फिल्मों में पाकिस्तान स्थायी दुश्मन के रूप में तो हमेशा ही प्रोजेक्ट होता रहा है और वो दुश्मन है भी। हिंदुस्तान का ही नहीं। स्वयं पाकिस्तान के बाशिंदों का भी। आतंकवाद के चरम पर पहुंचने के बाद मुसलमानों का नाम उसके साथ जुड़ता गया। वो खुद को राष्ट्रवादी, निदर्दोष और देशभक्त साबित करने की जद्दोजहद में उलझ गये। इस बार पूरे विश्व ने उनको कवर करना शुरू किया। अचानक ही पहले वाले वफादार मुस्लिम किरदार गैंगस्टर और आतंकवादियों के रूप में सामने आने लगे। कतिपय कारणों से उसके पीछे के कई मनोरंजक अफसानों को इस लेख से बाहर रखा जा रहा है। मुस्लिम समाज की मुख्य समस्याओं बहु विवाह, तलाक



समय मुस्लिम समाज की बुराईयों पर फोकस न करके उन्हें एक 'फिलर' की तरह इस्तेमाल किया जाता था यानी कम तवज्जो दिया जाता था। अब मुस्लिम केन्द्रीय भूमिका में दिख रहे हैं।

जैसी स्थाई समस्याओं को छोड़कर फिल्मकारों का ध्यान 'आतंकवाद और उसकी चपेट में आये मुस्लिम समाज पर केन्द्रित हो गया। सन 2000 में बनी फिल्म 'फिजा' मुस्लिम समाज पर बनने वाली अंतिम क्लासिक फिल्म थी। अब आदर्शवादी मुस्लिम समाज को दर्शाती फ़िल्में तो कोई शायद ही बनाने की सोचे।

लव 1990 के बाद नये अर्थ समझाती कई फिल्में हिंदुस्तान में बनीं जिनमें से बाम्बे, माई नेम इज खान, अनवर, कम्पनी, अंडरवर्ल्ड, एनकाउंटर, अब तुम्हारे हवाले वतन साथियों, वीर जारा, मुहाफिज, थोखा, एक था टाईगर, दी हीरो स्टोरी ऑफ दी स्पाई आदि फिल्मों के नाम लिए जा सकते हैं। भारत भूमि से दूर विदेशी फिल्मकारों ने भी माई तेहरान फॉर सेल, बोल, लेमन ट्री, कांधार, खुदा के लिए, दी साल्ट आफ दी सी, ओसामा, ऐट फाईव इन दी आफ्टरनून, पर्से पोलिस जैसी फ़िल्में बनायीं। इन फिल्मों में कल्पनाशी-

लता और तंगनजरी कम, वास्तविकता ज्यादा दिखेगी।

भारतीय संदर्भ में तो हम इतना कह सकते हैं कि एक समय मुस्लिम समाज की बुराईयों पर फोकस न करके उन्हें एक 'फिलर' की तरह इस्तेमाल किया जाता था यानी कम तवज्जो दिया जाता था। अब मुस्लिम केन्द्रीय भूमिका में दिख रहे हैं, मगर वो जिस रूप में दिख रहे हैं, उससे पूरी दुनिया में खतरनाक संदेश जा रहे हैं। चंद सरफ़िरो की वजह से पूरी कौम लांछन झेले, यह सही नहीं है। इस मामले में इंसाफगोई जरूरी है।

जहां तक भारतीय फिल्मोद्योग की बात है, इसे तो अपनी धर्मनिरपेक्षता, सहिष्णुता और खुले विचारों पर नाज होना चाहिए। यहां रचनात्मकता की बात होती है. रचनात्मकता के लिए रचनात्मक ढंग से काम किया जाता है। यहां के लोग उकसाने पर भी नहीं उकसते।

मौसम चाहे शीत, ग्रीष्म या वसंत राग छेड़े, जलाशय का काम है जल देते रहना। सिनेमा को भी इसी तरह जाति, धर्म, लिंग और द्वेषभाव से परे मनोरंजन का निर्मल जल मुहैया कराते जाना है।

वैष्णव होने का धर्म

गांधीजी के सबसे प्रिय भजनों में से है-वैष्णव जन तो तेने कहिए। इसके रचयिता हैं, गुजराती के भक्त कवि नरसी मेहता। नरसी का नाम गुजराती की भक्ति काव्य धारा के पुरोधा संत कवि के तौर पर लिया जाता है। इनकी भक्ति का केंद्रीय तत्त्व वैष्णव भाव है। इनकी मुख्य रचनाएँ हैं-हार-माला, चातुरी षोडसी, चातुरी छत्तीसी, सामल दास नो विवाह, दान-लीला, गोविंद गमन, सुरत-संग्राम। इतिहास के जिस दौर में नरसी अपने शब्द-कर्म में सक्रिय थे, पूरे देश में, अपनी-अपनी 'भाषा' में, संत-भक्त अपनी वाणी को अभिव्यक्ति दे रहे थे। यह संस्कृत के बरअक्स मातृभाषाओं के उत्थान का दौर था। भक्ति इसके केंद्र में थी। सभी संत-भक्त इस काल में अपने-अपने मुताबिक भक्ति को परिभाषित कर गति और नया आकार दे रहे थे।

महात्मा गांधी को नरसी मेहता का यह भजन क्यों इतना प्रिय था कि वे अपनी प्रार्थना में इसे नियमित शामिल करते थे। दरअसल, किसी भी पसंदगी-नापसंदगी की कुछ वजह होती हैं। सांस्कृतिक अभिप्राय होते हैं। और गांधीजी के मुआमले में यह दिखता ही है कि उनके हर राजनीतिक-सांस्कृतिक कदम के पीछे व्यापक आशय निहित रहते थे।

गांधीजी की पसंदगी का कारण इस भजन में ही अनुस्यूत है। यह भजन वैष्णव होने की परिभाषा गढ़ता है। वैष्णव किसे कहा जाएगा, बताता है। एक वैष्णव का आचरण कैसा होना चाहिए, स्पष्ट करता है।

नरसी मेहता के इस भजन के मुताबिक एक वैष्णव उसी व्यक्ति को कहा जा सकता है, जो दूसरों की पीड़ा समझे। दूसरों की पीड़ा को जानना-समझना पहली कसौटी है, वैष्णव होने के लिए। लेकिन उसे पीड़ा जानने तक ही सीमित नहीं रहना है। दूसरों की तकलीफ जानने के बाद उसे दूर करने की कोशिश करनी है। दूसरों का दुःख समझ, उस पर उपकार करना है। उस पीड़ा को खत्म करने का प्रयास करना है। साथ ही, ध्यान रहे इस उपकार को करने से मन में किसी तरह का अभिमान न आए। किसी के प्रति उपकार कर मन में अभिमान न आए, वैष्णव होने के लिए, यह भी उपकार करने जितना ही जरूरी है। ऐसा अमूमन दिखता है कि लोग किसी की सहायता करते हैं और इसका ढोल भी खूब बजाते हैं। ढोल बजाना तो आगे की बात है, इस भजन में तो यहाँ तक कहा गया है कि मन में भी लेश मात्र

अभिमान न हो। ऐसा नहीं कि भले ही अन्य लोगों को उपकार के बारे में न बताया जा रहा हो, पर मन-ही-मन इस अभिमान से प्रमुदित रहा जाए। मन में अभिमान का लेश मात्र नहीं होना, वैष्णवता की शर्त है। ख्यात साहित्यकार विष्णु प्रभाकर' ने एक प्रसंग का जिक्र किया है। गांधीजी के एक साथी थे परचुरे शास्त्री। उन्हें कोढ़ था। एक दिन बिना सूचना दिए वह आश्रम में पहुँच गए। उस रात गांधीजी की चिंता का पार नहीं था। सोचने लगे शास्त्री जी कोढ़ी हैं, और आश्रम में दूसरे लोग भी रहते हैं। उनके स्वास्थ्य का भार भी तो मुझ पर है; लेकिन यह जो व्यक्ति मेरे द्वार पर आया है, ऐसा लगता है, जैसे स्वयं प्रभु ही मेरे द्वार आए हों... नहीं-नहीं, वह यहीं रहेंगे। वह वापस नहीं जाएँगे।

और परचुरे शास्त्री फिर वापस नहीं गए। गांधीजी स्वयं प्रतिदिन उनके घावों को साफ करते और शरीर की मालिश करते। उनके लिए यह सत्य का एक और प्रयोग था। गंभीर से गंभीर क्षणों में भी वह उन्हें भूलते नहीं थे। एक बार वर्धा में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की एक बहुत ही महत्वपूर्ण बैठक हो रही थी। वह बीच में उठे, बोले, "मुझे बहुत जरूरी काम से सेवाग्राम जाना है।" पंडित जवाहरलाल नेहरू बोले, "क्या वह काम स्वराज्य से भी बढकर है।"

गए।" गांधीजी बोले, "हाँ, मेरे लिए परचुरे शास्त्री की सेवा स्वराज्य से भी बढकर है। और वह चले स्वराज्य पाने के महा-आख्यान में, बड़े स्वप्न में, भी गांधी को याद रहता था, एक कुष्ठ रोगी की सेवा-सरीखा 'जरूरी' काम।

नरसी मेहता भजन में कहते हैं कि वैष्णव वह है जो विनम्र हो, सबका आदर करता हो और दूसरों की निंदा नहीं करता हो। वैसा शख्स वैष्णव कहलाने का अधिकारी है, जो मन, वचन और कर्म से निश्छल हो।

गौरतलब है कि निंदा और आलोचना में फर्क होता है। आलोचना बेहतर की उम्मीद में की जाती है। जबकि निंदा मन की मलिनता का नतीजा होती है। निंदा में ईर्ष्या और वैमनस्यता का पुट होता है। शब्द के सच्चे मायने में वैष्णव होने के लिए यह भी आवश्यक है कि व्यक्ति मन, वचन और कर्म-तीनों से निश्छल हो। कई दफे यह दिखता है कि निश्छलतापूर्वक कर्म करने वाले भी कठोर वचन बोलते हैं। उनमें भी संयमित वाणी का अभाव होता है। यह भी संभव है कि कर्म और वचन वाले का मन निश्छल नहीं हो, दुर्भाव-



अभिषेक ज्योति



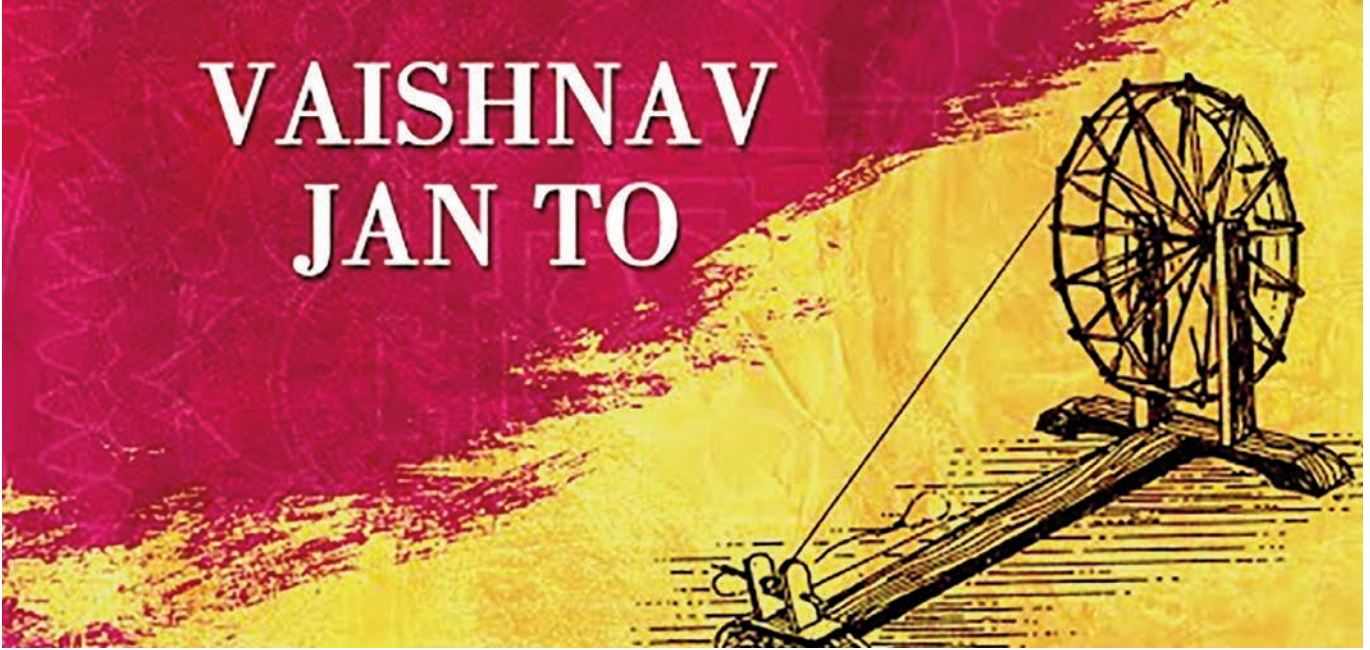
नायुक्त हो। गांधीजी के इस प्रिय भजन के मुताबिक मनसा-वाचा-कर्मणा निश्चल, प्रपंचरहित व्यक्ति ही वैष्णव होने की पात्रता रखता है। मनसा वाचा-कर्मणा में कठिनाई के लिहाज से अनुक्रम बनाएँ तो बनेगा-कर्मणा, वाचा और मनसा। ये तीनों स्तर कसौटी है, वैष्णव की परख के लिए।

वैष्णव वह है जो सबको एक नजर से देखता हो। इंसान-इंसान में फर्क नहीं करता हो। लिंग, जाति, वर्ण, रंग, क्षेत्र, भाषा किसी भी आधार पर किसी व्यक्ति को हेय नहीं समझता हो। जिसके अंदर तृष्णा नहीं हो। जो पर स्त्री को माँ के समान समझता हो। जिसकी जुबान कभी झूठ न बोलती हो। जो दूसरों के धन को हाथ न लगाता हो। कष्ट सहकर भी जिसमें सच बोलने का साहस हो। दूसरे की संपत्ति को देखकर जिसके मन में लालच पैदा नहीं हो। जिसके मन में दृढ़ वैराग्य का भाव हो; जिसे मोह-माया अपने जाल में फाँस न सके। जिसका मन राम में लग गया हो। ऐसे व्यक्ति भटकना नहीं पड़ता-कारण कि सब उनके हृदय में ही होता है। ऐसा व्यक्ति जो लोभ, कपट, काम और क्रोध से रहित हो। बकौल नरसी मेहता, ऐसे व्यक्ति के दर्शन से कुल भी तर जाता है।

कहना न होगा कि नरसी मेहता ने वैष्णवता की पूरी नई परिभाषा दी है। इसके मुताबिक वैष्णव होने के लिए वैष्णव परिवार में जन्म होना न तो आवश्यक है और न ही काफी। इसके लिए जरूरी है, भजन में व्यक्त मान्यताओं को पूरा करना। गांधीजी इस भजन को अपना प्रिय मानकर और प्रार्थना सभा में इसका गायन कराकर, इसकी मान्यताओं को स्वीकृति प्रदान कर रहे थे। इससे गांधीजी के दौर की वैष्णवता को एक नया अर्थ मिल रहा था। यह वैष्णवता स्वाधीनता आंदोलन के दौर में गांधी के राजनीतिक-सांस्कृतिक निहितार्थ को स्पष्ट कर रहा था। और पूर्ति भी।

इतिहास के विकास क्रम में वैष्णव समुदाय भी कट्टरता, छुआछूत, ऊँच-नीच सरीखी गलत मान्यताओं को मानने लगा था। नरसी मेहता का यह भजन इन सब कुरीतियों को इन्कार कर, वैष्णव होने के लिए मानवीय शर्त प्रस्तावित करता है। जिनके आचरण में ये सारी बातें हों, वही वैष्णव जन हैं।

सन् सैतालीस में 'आश्रम भजनावलि' की नई आवृत्ति प्रकाशित होनी



थी। इसकी प्रस्तावना लिखने हेतु गांधीजी से आग्रह किया गया। गांधीजी ने लिखा कि इसकी प्रस्तावना “लिखने की योग्यता मैं नहीं रखता, फिर भी इतना तो कह सकता हूँ कि जो संग्रह किया गया है, उसमें मुख्य हेतु वह है कि नैतिक भावना प्रबल हो। यह भी समझाने लायक बात है कि एक ऐसा समूह पैदा हो गया है, जो इन भजनों को कई बरसों से भक्ति-भाव से पढ़ता आया है। तीसरी बात यह है कि इस संग्रह में किसी भी एक सम्प्रदाय का खयाल नहीं रखा गया है। सब जगह से जितने रत्न मिल गए, इकट्ठे कर लिए गए हैं। इसलिए इसे काफी हिन्दू, मुसलमान, ख्रिस्ती, पारसी शौक से पढ़ते हैं और इससे कुछ-न-कुछ नैतिक खुराक पाते हैं।”

यह 'आश्रम भजनावलि' साबरमती आश्रम के दिनों में संगीतज्ञ नारायण मोरेश्वर खरे ने संकलित किया था। अपने 'प्रास्ताविक' में इन्होंने कहा है: “श्रुति कहती है कि 'ईश्वर एक है, किन्तु भक्त लोग अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार अलग-अलग नाम-रूप से उसकी उपासना करते हैं।' यह सनातन-सत्य जिन लोगों ने पाया, उन पर यह जिम्मेवारी आ पड़ी है कि वे अपने जीवन में सर्व-धर्म-समभाव और विश्व-बंधुत्व का विकास करें। 'स्व-धर्म' के तत्व का पालन करते हुए हमारे आश्रम ने सब धर्मों और पन्थों के प्रति उसके अनुसार आश्रम में उभय सन्ध्या-काल को जो उपासना या प्रार्थना की जाती है, उसका यह संग्रह है। आश्रम का जीवन समृद्ध होता गया, वैसा यह भजन-संग्रह भी बढ़ता गया है।”

गांधीजी की बातों से यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि इसका मुख्य मकसद है नैतिक भावना का विकास। मनुष्य की नैतिक-भावना की प्रबलता आश्रम की प्रार्थना का केंद्रीय तत्व है। खरेजी की बातों से सनातन सत्य क्या है; जिन्होंने इसे समझ लिया है, उनका फर्ज क्या है इसका पता चलता है। आश्रम के जीवन के साथ भजन-संग्रह भी समृद्ध हुआ, इसका

जिक्र खरे जी ने किया है। आश्रम में जैसे-जैसे भिन्न-भिन्न विश्वासों-आस्थाओं के लोग शामिल होते गए वैसे ही आश्रम की प्रार्थना में भी उनके पवित्र वचनों को स्थान मिलता गया। काका कालेलकर ने इसकी विस्तृत कथा लिखी है।”

स्वाधीनता आंदोलन के दौर में नरसी मेहता द्वारा पेश वैष्णवता की परिभाषा को मान्यता देना काबिलेगौर है। इसमें चरित्रगत पवित्रता और अहिंसा को स्वीकार किया गया है। महात्मा गांधी नरसी मेहता के भजन में मौजूद परिभाषा को जी रहे थे। वे शब्द के सच्चे मायने में 'वैष्णव जन' थे। जिक्र करने लायक बात यह भी है कि गांधीजी अपने चिंतन-दर्शन के जरिए मौजूद सभ्यता का जो विकल्प प्रस्तावित कर रहे थे, इस भजन में उसी की बुनियाद है। सच्चाई और अहिंसा गांधीजी के जीवन का केंद्रीय बिंदु हैं। आजादी की लड़ाई में, वे इसे पूरे तौर पर, लागू कराना चाहते थे। नरसी मेहता का भजन भी इसी की याद दिलाता था।

काबिलेगौर बात यह भी है कि गांधीजी अपनी राजनीतिक बातों को भी धार्मिक मुहावरे व शब्दावली में जाहिर करते थे। उनके लिए धर्म सही अर्थों में 'दीर्घकालीन राजनीति' था और राजनीति 'अल्पकालीन धर्म'। असल में गांधीजी 'धर्म' का प्रयोग जिन अर्थों में करते थे, उसका आशय न तो रिलीजन है और न ही मजहब। गांधीजी से पहले भारतीय ज्ञान परंपरा में भी 'धर्म' शब्द का अभिप्राय मजहब या रिलीजन के अर्थ में नहीं था।” यहाँ धर्म था प्रकृति के अर्थ में। स्वभाव के अर्थ में। धर्म का मतलब था-कर्तव्य एवं दायित्व-बोध। गांधीजी के मुताबिक किसी के लिए भी वैष्णव होने का यही 'धर्म' है। वे स्वाधीनता आंदोलन में भी अपने इसी 'धर्म' का पालन कर रहे थे। नरसी मेहता का भजन प्रार्थना सभा में गायन कराकर लोगों की चेतना को इस दिशा में बदलने की कोशिश कर रहे थे।

जल ही जीवन है

आइये पानी बचाने का संकल्प लें



सहयोग द्वारा जनहित में जारी

अपने और अपने आसपास के लोगों का बचाव करें



तबीयत ठीक न होने
पर घर पर ही रहें



अपने चेहरे, नाक और
मुंह को छूने से बचें



खांसी-जुकाम वाले लोगों से
1.5 मीटर की दूरी बनाएं



खांसी-जुकाम होने पर
मुंह ढककर रखें



हाथों को लगातार
धोते रहें



सहयोग की ओर से जनहित में जारी